02Sikha_Layout 1 22-02-2024 15:14 Page 28

हिंदी सिनेमा में ग़ज़ल का सांगीतिक सफ़र

शिखा झींगन

अनुवाद : दिनेश कुमार

यह अध्याय हिंदी सिनेमा की एक सांगीतिक विधा के रूप में ग़ज़लों पर केंद्रित है। ग़ज़ल का गहरा संबंध रूमानियत से है और इसमें तीव्र भावनाएँ अभिव्यक्ति पाती हैं (क़ुरैशी 1990)। जैसा कि पीटर मैनुएल ने दिखाया है, जहाँ भी इसका अस्तित्व है उन तमाम क्षेत्रीय संस्कृतियों में ग़ज़ल को गाने और शायरी के रूप में पेश करने का प्रचलन रहा है[1], और उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध और बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में यह भारतीय लोकप्रिय संस्कृति के अंतर्गत हिंदुस्तानी संगीत की एक महत्त्वपूर्ण विधा बन गई। मुशायरा और महफ़िल जैसे मंचों से सांगीतिक ग़ज़ल कैसे पैदा हुई, नाट्य मंचों से लेकर आधुनिक जन-संचार माध्यमों जैसे ग्रामोफ़ोन, रेडियो और सिनेमा में इन्हें कैसे प्रस्तुत किया गया है, इसको समझने के साथ-साथ हिंदी सिनेमा में ग़ज़ल के विभिन्न रूपों और प्रयोगों को रेखांकित करने का प्रयास इस लेख में किया गया है।

बतौर काव्यरूप ग़ज़ल 'शेरों की अनिश्चित संख्या' का एकबद्ध समुच्चय है, जिसके शेर रदीफ़ और क़ाफ़िए में होते हैं और ग़ज़ल इस ढाँचे का सख़्त पालन किए जाने की माँग करती है। इसके अतिरिक्त, ग़ज़ल में प्रत्येक शेर का उद्देश्य एक ख़ुद मुख़्तार इकाई के रूप में 'आत्म-पर्याप्त भाववाची विचारों' को प्रस्तुत करना है'।[2] इसके छंद/बहर को तय करने वाले मानदंड ख़ास तौर पर रदीफ़ और काफ़िये पर ज़ोर ग़ज़ल को एक निश्चित ताल और सांगीतिक गुणवत्ता प्रदान करता है। शायरों का मानना है कि ग़ज़ल कहने या लिखने के लिए उन पर आयद पाबंदियाँ दरअसल उसके रूप को तराशने, समृद्ध करने और पढ़ने तथा सुनने वाली जनता द्वारा सराहे जाने के क़ाबिल बनाती हैं।

ग़ज़ल 'एक ही समय में 'गीतात्मक, लाक्षणिक और चिंतनशील' है तो साथ ही वही पंक्तियाँ 'भावुक, कामुक और दार्शनिक-आध्यात्मिक विषय' की व्यंजनाएँ करने में समर्थ

---

[1] पीटर मैनुएल (1998-89) : 950.

[2] वही : 94.

02Sikha_Layout 1 22-02-2024 15:14 Page 29

हैं'।[3] इसकी अरबी-फ़ारसी जड़ों की ओर ध्यान खींचते हुए फ़्रंचेस्का ओर्सीनी ने यह सुझाया है कि *ग़ज़ल* का एक केंद्रीय तत्त्व इश्क़ है।[4] यद्यपि साहित्यिक विधा के रूप में इसकी महत्ता से इंकार नहीं किया जा सकता है लेकिन ग़ज़ल मूलतः मुशायरों और महफ़िलों की मौखिक और श्रव्य विधा है जो सहृदय श्रोताओं और शायरों के बीच आमने-सामने की अंतर्क्रिया से परवान चढ़ती है। रैल्फ़ रसेल के अनुसार, ग़ज़ल पहले तो सुनाए जाने के लिए रची जाती थी बाद में इसे पढ़ा जाने लगा। लिहाज़ा शायर से यह उम्मीद की जाती थी कि वह अपनी अदायगी और अंदाज़े बयाँ से श्रोताओं को मुतास्सिर करे।[5] चूँकि शायर की वक्तृता और लोच ग़ज़ल के लिए अहम है, हम सहज कल्पना कर सकते हैं कि मुशायरा एक ऐसी ऐंद्रिक और सुरीली जगह बन जाता है जो संपादकों-प्रकाशकों, शौक़िया शायरों तथा काव्य प्रेमियों को बरबस अपनी ओर खींचता है। भास्कर और ऐलन के अनुसार 'सार्वजनिक जनपद में होने वाले ये साहित्यिक और सामाजिक जमावड़े' जहाँ ग़ज़ल पढ़ी जाती थी, मुख्यतः मर्दाना जगहें थीं, 'यद्यपि स्त्रियों का अपनी तरह का मुशायरा था'।[6] इसके अलावा, जीवनियों और आत्मकथात्मक वर्णनों में उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में *कोठों* की *महफ़िलों* और *मुजरों* का ऐसे अहम कार्यक्रम स्थलों के रूप में ज़िक्र मिलता है जहाँ उर्दू शायरी का ख़ूब प्रचार-प्रसार हुआ।[7] *ग़ज़ल* के प्रसार के लिए अमूमन उतनी ही महत्त्वपूर्ण जगह पारसी थिएटर भी रही है जिनमें ग़ज़लों का सनृत्य इस्तेमाल होता था।

मेरे ख़्याल से ये ऐसे संजाल थे जिनमें ग्रामोफ़ोन के आने के साथ बड़े बदलाव हुए चूँकि फिर संगीत का भावोत्पादक विनिमय भी संभव हुआ। अपनी पीएचडी थीसिस (2016) में रविकान्त ने 'हिंदी' सिनेमा के अंतर्माध्यमिक संबंधों पर बहुत ही गहराई से विचार करते हुए प्रिंट मीडिया, ग्रामोफ़ोन रिकॉर्डिंग्स, लाइव प्रदर्शनों, पारसी थिएटर, सिनेमा और रेडियो जैसे विभिन्न मनोरंजन रूपों के बीच 'आवाजाही' को दिखाया है। ग़ज़ल के मामले में ध्वनि पुनरुत्पादन तकनीकों द्वारा मौखिक, श्रव्य और सांगीतिक प्रदर्शनों के अंतर प्रवाह का इस्तेमाल किया गया। जैसे-जैसे ग़ज़ल एक सांगीतिक विधा के रूप में ग्रामोफ़ोन रिकॉर्डिंग्स और रेडियो के माध्यम से प्रसारित होना शुरू हुई तो अवश्यम्भावी रूप से इसने 1930 और 1940 के सिनेमा में भी अपना रास्ता प्रशस्त किया। शाब्दिक, सांगीतिक, प्रदर्शनात्मक ग़ज़ल का माधुर्य, पढ़े जाने, सुने जाने और गाए जाने के परस्पर समावेशी संबंधों पर विशेष रूप से मुनहसर है। ग़ज़ल के ये प्रवाह पाठीय, सांगीतिक, प्रदर्शनात्मक और ध्वनिक गुण के संयुक्त आवेश से पैदा हुए थे और जो पढ़ने, सुनने

---

[3] भास्कर और एलन (2009) : 14.

[4] फ़्रंचेस्का ओर्सीनी (2007) : 14.

[5] रसेल (1969) : 119-20.

[6] भास्कर और एलन (2009) : 14.

[7] संपत (2010) : 39, संपत द्वारा लिखी गौहर जान की आत्मकथा में मलिका जान का वर्णन सुप्रसिद्ध कवयित्री के रूप में हुआ है जिन्होंने 1886 में अपनी कविताओं का संग्रह प्रकाशित करवाया था. वहीं इसका भी उल्लेख है कि दाग़ देहलवी और अकबर इलाहाबादी उनके समकालीन थे और उनका बहुत आदर करते थे.

02Sikha_Layout 1 22-02-2024 15:14 Page 30

और गाने के पारस्परिक रूप से समावेशी संबंध पर महत्त्वपूर्ण रूप से निर्भर थे। मसलन, चौधरी ज़िया इमाम द्वारा लिखित नौशाद अली की जीवनी में हमें एक वर्णन मिलता है कि नौशाद लखनऊ में अमीनाबाद चौक में स्थित एक पान की दुकान में अपनी शामें गुज़ारा करते थे।[8] दुकान के मालिक कोई नईम साहब थे, जो उर्दू शायरी के शैदाई और शायर दोनों थे, लिहाज़ा वहाँ शो'अरा का अड्डा जमता था। तो यहीं नौशाद बहज़ाद लखनवी से मिले थे। लोगों का यह संजाल अलग-अलग जगहों पर फैल गया। फलते-फूलते फ़िल्म उद्योग वाले बंबई शहर ने कई कवियों, संगीतकारों, गायकों और लेखकों को आकर्षित किया जिन्होंने न केवल वहाँ काम पाया बल्कि नए संदर्भों में इन लोगों ने अपने आपसी संबंधों को पुनर्परिभाषित किया। बंबई में 1940 के दशक में जब वे फ़िल्मों में अपने पैर जमाने के लिए संघर्षरत थे, उस समय नौशाद ने शकील बदायूनी, ख़ुमार बाराबंकवी, नक़सब जारचवी और ज़ुल्फ़िकार अली बुख़ारी के साथ गुज़ारी अपनी महफ़िलों का वर्णन किया है। कुछ शीर्ष उर्दू गीतकारों और शायरों के बीच संगीतकारों की उपस्थिति स्वयं इस बात का गवाह है कि *ग़ज़ल* के लिए एक व्यापक जन संवेदना के निर्माण में संगीत ने एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। इसी तरह, मंटो ने रफ़ीक ग़ज़नवी का बहुत दिलचस्प वर्णन किया है कि वे अमृतसर में अपने मज़ापसंद दोस्तों के साथ ठुमरी, दादरा और टप्पा गाते थे और शायरी भी करते थे।[9] फिर ग़ज़नवी मुंबई आ गए और 1940 के दशक में महबूब ख़ान सहित फ़िल्म उद्योग के मशहूर निर्माताओं के साथ संगीत निर्देशक के रूप में काम किया।

मेरी दिलचस्पी संगीत शैली के रूप में सिनेमा में एक मज़बूत मुक़ाम बनाने से पहले सांगीतिक विधा के रूप में ग्रामोफ़ोन और रेडियो के माध्यम से प्रसारित होने वाली ग़ज़ल की इस आधुनिक अनुवांशिकी की पड़ताल करने में है। कुंदन लाल सहगल, बेगम अख़्तर और तलत महमूद की जीवनियों, ब्लॉग पर हुई चर्चाओं और पर्दे की सांगीतिक दृश्यावली के शाब्दिक विश्लेषण से इकट्ठा सूचनाओं के आधार पर मैंने पूछा है कि जब ग़ज़ल एक फ़िल्म गीत के रूप में सिनेमा में शामिल हुई तब कौन सी पाठ्य, सांगीतिक और शैलीगत मध्यस्थताएँ हस्तक्षेप करती हैं। इसकी श्रव्य अदायगी को ध्यान में रखते हुए मैं सिनेमाई ग़ज़ल की ऐंद्रिकता को श्रोता के माध्यम से समझने की कोशिश करूँगी जिसका पर्दे पर का और पर्दे से इतर संदर्भ भी होगा। आख़िरी खंड में मैं सिनेमाई ग़ज़ल की प्रस्तुति की दो विशिष्ट शैलियों पर ध्यान केंद्रित करूँगी ताकि कैमरे के दृश्यांकन के ज़रिये ध्वन्यात्मक तत्त्वों को रेखांकित किया जा सके कि कैसे पर्दे पर स्टार-गायक और श्रोताओं के बीच दृष्टि विनिमय में ध्वन्यात्मक विनिमय भी विन्यस्त है।

---

[8] चौधरी ज़िया इमाम (2008) : 58.

[9] *ठुमरी* हिंदुस्तानी शास्त्रीय संगीत की एक गेय उप-शास्त्रीय विधा है. *दादरा* गायन शास्त्रीय संगीत के अंतर्गत एक उप-शास्त्रीय विधा है जिसमें *छह ताल* या *दादरताल* का प्रयोग होता है. अशोक राणाडे के अनुसार, *दादरा* में ताल के झुकाव पर ज़ोर दिया जाता है. *टप्पा* उप-शास्त्रीय संगीत की एक अन्य विधा है, जो पंजाब के ऊँट सवारों से प्रेरित है, इसकी मधुरता और लयात्मकता इसे ख़ास बनाती है.

02Sikha_Layout 1 22-02-2024 15:14 Page 31

ग्रामोफ़ोन युग में ग़ज़ल

रिकॉर्डिंग तकनीक के आगमन के साथ, ग़ज़ल सिर्फ़ साहित्यिक और तमाशाई विधा नहीं रह गई बल्कि ग्रामोफ़ोन तवों के ज़रिये इसके श्रव्य जनपद का विस्तार हुआ। लंदन में 1899 में रिकॉर्डों की पहली सूची जिसे 10000 सिरीज़ कहा जाता है, उसमें हाफ़िज़ की फ़ारसी शायरी की शिराज़ द्वारा अदायगी और ग़ालिब की उर्दू-फ़ारसी शायरी की ज़हीर फ़ारयाबी द्वारा अदायगी शुमार है। दोनों में ग़ालिब और कविताओं के पाठ शामिल थे (किन्नियर 1994)। गैसबर्ग द्वारा चलाए गए पहले रिकॉर्डिंग अभियान के तहत सबसे पहली ध्वन्यांकित ग़ज़लें हरी मोती और मिस सुशीला की थीं जिन्होंने उसी श्रृंखला में कुछ *दादरे* भी रिकॉर्ड किए थे। इस दौर में निजी *महफ़िलों* में अपने संरक्षकों का मनोरंजन करने वाली बाई जी या तवायफ़ों के नाम से मशहूर महिलाओं ने ग्रामोफ़ोन उद्योग के लिए तवे भरे। अंगूर बाला जैसी नाटकों में काम करने वाली मशहूर गायिकाओं-सह-अभिनेत्रियों ने भी ग्रामोफ़ोन कंपनियों के लिए गायन किया। श्वेता सचदेव जैसी विदुषियों ने फ़रमाया है कि इनमें से बहुत सी तवायफ़ें उर्दू की बेहतरीन और मशहूर शायराएँ थीं। बहुत से क़स्बों और बड़े शहरों में कोठों, शहरी थिएटर और रिकॉर्डिंग उद्योग के बीच संसाधनों, प्रतिभा और स्थितियों का अबाध आदान-प्रदान होता था। नाट्य-संगीत भी रिकॉर्डिंग उद्योग के लिए एक अहम स्रोत माना गया है। कलाकारों, संगीतकारों और शायरों के विभिन्न पारम्परिक प्रदर्शनों के बीच आदान-प्रदान के ज़रिये सांगीतिक विधाओं के ईजाद हुए और व्यावसायिक रिकॉर्डों के माध्यम से संगीत श्रोताओं तक पहुँचकर लोकप्रिय हुआ। संगीत की इसी थाती और संसाधन का इस्तेमाल सवाक सिनेमा ने किया।

लेकिन रिकॉर्डिंग उद्योग में एक विधा के रूप में ग़ज़ल को विशिष्ट पहचान कैसे मिली? यहाँ ध्यान रखने की ज़रूरत है कि आरंभिक रिकॉर्डों में प्रस्तुत ग़ज़लें कलाकारों की व्यापक थाती का हिस्सा प्रतीत होती हैं जिसमें उत्तर भारत की शास्त्रीय और अर्द्ध-शास्त्रीय संगीत विधाएँ जैसे ठुमरी, दादरा, टप्पा, ख़याल, तराना, क़व्वाली और भजन शामिल थीं।[10] यदि हम आरंभिक समय के तवों पर ग़ौर करते हैं तो यह साफ़ हो जाता है कि ग्रामोफ़ोन उद्योग गायक-कलाकारों के साथ व्यक्तिगत तौर पर काम करना पसंद करता था, कि एक कलाकार को बुलाया और उसकी थाती में से तरह-तरह की चीज़ें रिकॉर्ड कर लीं। गौहर जान, जानकी बाई, ज़ोहरा बेगम, काली जान, इनायत ख़ान पठान, अज़ीज़ जान, असग़री जान, अंगूरबाला, इंदुबाला और मिस दुलारी कुछ ऐसे ही गायक-गायिकाएँ हैं जिनकी ग़ज़लें ग्रामोफ़ोन रिकॉर्डों के माध्यम से भारत में रिकॉर्ड संगीत के पहले और दूसरे दशकों में लोकप्रिय हुईं। एक और ग़ौरतलब तथ्य यह है कि इन अधिकांश आरंभिक तवों में शायरों के नामों का उल्लेख नहीं

---

[10] *ख़्याल* हिंदुस्तानी शास्त्रीय संगीत की एक ख़ास विधा है, जिसे एक निश्चित राग और ताल में गाया जाता है और जिसकी ख़ास बनावट का प्रयोग *राग* को खोलने के लिए किया जाता है. *तराना* एक संरचना युक्त गायन संगीत है जो वाद्य यंत्रों की ध्वनि से प्रेरित ध्वनि शब्दांशों का प्रयोग करता है. *भजन* और *कीर्तन* हिंदू आध्यात्मिक गायन संगीत की विधाएँ हैं. इनके बाद वाले हिस्सों को कोरस में गाया जाता है.

02Sikha_Layout 1 22-02-2024 15:14 Page 32

मिलता। उदाहरण के तौर पर गौहर जान की 12' की सूची के रिकॉर्डिंग में ग़ालिब का ये मशहूर शेर तो है पर उनका नाम नहीं आता[11] :

ये न थी हमारी क़िस्मत, के विसाल-ए-यार होता[12]

पीटर मैनुएल के अनुसार, ग़ज़ल की बहर 'परिष्कृत-अलंकृत' ज़बान, 'शृंगारिक अंतर्वस्तु' और 'रदीफ़-काफ़िये' से संयुक्त होकर संगीत में ढलने के लिए तैयार हो जाती है।[13] बक़ौल रेगुला क़ुरैशी, ध्वन्यांकित ग़ज़ल में संगीत दरअसल 'काव्य के ढाँचे और श्रव्य तौर पर अदायगी की सेवा में इस्तेमाल होता था'।[14] 1990 की शुरुआत में एचएमवी द्वारा दस कैसेटों की सिरीज़ निकाली गई जिसमें *ग़ज़ल का सफ़र* के अपने मौखिक इतिहास में गुलज़ार ने इस बात पर ज़ोर दिया कि साज़ के माध्यम से ग़ज़ल प्रकाशन संसार से निकलकर रिकॉर्ड स्वरूप में आने का रास्ता बना सकी।[15] ध्वन्यांकित ग़ज़ल और सांगीतिक महफ़िल में गाई गई ग़ज़ल के बीच एक महत्त्वपूर्ण अंतर है जिसे मैनुएल ने भी रेखांकित किया है, वह है महफ़िलों की ग़ज़लों की आशु बढ़त की प्रकृति।[16] ध्वन्यांकित ग़ज़ल के अपेक्षाकृत कम तात्कालिक रूप का विकास व्यावसायिक ध्वन्यांकित प्रारूप की भौतिक, तकनीकी और व्यावसायिक सीमाओं के संदर्भ में देखा जाना चाहिए। गायक जिस *ख़याल बंदिश* को घंटों में गाते थे, उसे अब उनसे तीन मिनट में गाने की उम्मीद की जाती थी। 78 आरपीएम रिकॉर्ड में तीन मिनट और बीस सेकंड के समय की सीमा का मतलब था सांगीतिक आशु बढ़त में एक हद तक कटौती, और एकरूपता लाने के लिए 'पीट-पाट के समतल किया गया'।[17] शायरों की कृतियों से कुछ चुनिंदा अश'आर को ही ध्वन्यांकित प्रारूप में शामिल किया जा सकता था। शामिल करने और निकाल बाहर करने की इस प्रक्रिया से ही ग़ज़ल का वह लोकप्रिय रूप पैदा हुआ जिसे श्रोताओं की बाढ़ पाती तादाद आसानी से ग्रहण कर सकती थी।

सिनेमा में आवाज़ के आगमन के साथ 1930 के दशक में क्रांतिकारी बदलाव हुए। और ठीक उसी समय ग्रामोफ़ोन रिकॉर्डों, सिनेमा और रेडियो के माध्यम से ग़ज़ल भी एक

---

[11] संपत (2010) : 247.

[12] सभी अनुवाद मेरे हैं. मैं इरा भास्कर और रिचर्ड एलन को धन्यवाद देती हूँ जिनके बहुमूल्य सुझावों ने कुछ अनुवादों को सटीक बनाने में मेरी मदद की. इस अध्याय के लिए ऑनलाइन रेख़्ता डिक्शनरी ने भी मेरे लिए एक ज़रूरी साधन का काम किया.

[13] पीटर मैनुएल (1988-89) : 95.

[14] रेगुला क़ुरैशी (1990) : 489.

[15] *ग़ज़ल का सफ़र* के प्राक्कथन में गुलज़ार ने लिखा, लिखी जाने के बाद ग़ज़लें किताबों में सुरक्षित तो हो गईं लेकिन संगीत और गायन के चलते इनका रिकॉर्डेड स्वरूप में भी संग्रहण संभव हुआ. *ख़्याल महफ़ूज़ था लेकिन आवाज़ पहली दफ़ा महफ़ूज़* हुई, गुलज़ार के शब्द इस ऑडियो लिंक में उपलब्ध हैं : https://wynk.in/music/song/introduction-by-gulzarand-jagjit-singh/sa_INH101103014?autoplay=true.

[16] पीटर मैनुएल(1988-89) : 106.

[17] भास्कर चंद्रावरकर (1980) : 71.

02Sikha_Layout 1 22-02-2024 15:14 Page 33

अहम सांगीतिक विधा के रूप में उभरी। कलकत्ता रिकॉर्डिंग उद्योग का एक फलता-फूलता केंद्र था, लिहाज़ा वहाँ कुंदन लाल सहगल, जद्दन बाई और तलत महमूद जैसे कलाकार इन अंतर्माध्यमिक रूपों के बीच काम की तलाश में आ जुटे। न्यू थिएटर के प्रतिभावान संगीतकारों ने *ग़ज़ल* और *ठुमरी* जैसी ललित सांगीतिक विधाओं से खेलते हुए ऐसी विशिष्ट शैली की रचना की, जिनमें गीतों के भावों को स्पष्ट और भावनात्मक रूप से उचारने का अवकाश था। भास्कर चंद्रावरकर ने इसे 'ब्रह्मो-बंगाली' संगीत की एक प्रवृत्ति के रूप में चिह्नित किया है, जिसका उपयोग कलकत्ता की शहराती थिएटर कंपनियों ने भी किया था।[18] इसी दौरान रवींद्र संगीत, ठुमरी, भजन, कीर्तन और ग़ज़ल जैसी ललित शास्त्रीय विधाओं की स्वभावीकृत प्रस्तुतियाँ कुंदन लाल सहगल, कृष्ण चंद्र डे और पहाड़ी सान्याल जैसे कलाकारों के स्वरों में राय चंद बोराल, कमला दास गुप्ता और पंकज मलिक जैसे संगीतकारों के निर्देशन में पेश और रिकॉर्ड की जा रही थीं।

कुंदन लाल सहगल को अपने गायन में शायरी और संगीत के अनोखे मिश्रण को परोसने की दिशा में अग्रणी माना जाता है। उनकी ग़ैर-फ़िल्मी ग़ज़लें निजी कंपनियों के प्रबंधकों के प्रयास से ध्वन्यांकित तवों के रूप में श्रोताओं को उपलब्ध थीं और यह सहज अनुमान लगाया जा सकता है कि उन्हें रेडियो पर भी सुना जा सकता था। बाद में सहगल ने फ़िल्मों के लिए कई गज़लें गाईं। मीडिया तकनीकों के संजाल द्वारा निर्मित अंतर्धारा से जिस नए सौंदर्यशास्त्र का उदय हुआ उसे बेहतर ढंग से समझने के लिए कुंदन लाल सहगल की जीवनी से हमें काफ़ी मदद मिल सकती है। सहगल को प्रेमांकुर अतोर्थी द्वारा निर्देशित कलकत्ता के न्यू थिएटर की फ़िल्म *मोहब्बत के आँसू (1932)* में किस तरह गायक-नायक के रूप में आगंतुक भूमिका मिली, इसके बारे में जीवनियों में वर्णित मुख़्तलिफ़ कहानियाँ हैं। एक कहानी यह है कि सहगल 1931 में कलकत्ता रेडियो स्टेशन की खोज थे जहाँ वे एक ऑडिशन के लिए ग़ज़ल गाने आए थे, जब कि कुछ अन्य कहानियों में बताया गया है कि एस्पलेनेड (चौरंगी) पर पान की एक दुकान पर गुनगुनाते हुए पाए गए थे, कुछ का मानना है कि वे मेट्रो सिनेमा के बाहर मिले। कुछ अन्य वर्णनों में ज़िक्र मिलता है कि एक फ़िल्म वितरक के सगाई समारोह में एक *निजी महफ़िल* में गाते हुए सहगल ने न्यू थिएटर के निर्माताओं को किस तरह मुतास्सिर कर दिया था (शरद दत्त 2007; नेविल 2011)। इन कहानियों की सच्चाई की परख में न उलझते हुए मेरी दिलचस्पी उन संजालों और भूगोल की शिनाख़्त करने में है जिसमें कलाकारों, प्रतिभाखोजियों और संगीतकारों ने एक ऐसा आपसी दिल का रिश्ता बनाया जो उभरते तकनीकी माध्यमों का इस्तेमाल कर नए रूपों की रचना करने में कामयाब हुआ। सहगल से जुड़ी हर किंवदंती दरअसल एक ऐसी घटना का दृश्यात्मक बयान है जहाँ तकनीकी और सामाजिक कल्पना साथ आकर ध्वन्यात्मक अनुगूँज पैदा करती है। हर बयान आवाज़ को पकड़े रखने की लालसा है, कि इसे दर्ज कर लो इसके पहले कि यह फिसल जाए।

[18] वही, (1987) : 11

02Sikha_Layout 1 22-02-2024 15:14 Page 34

इस श्रव्यात्मक आवेश के माध्यमीकृत संदर्भ को ध्यान में रखना ज़रूरी है : यह किसी श्रव्य पुनर्जागरण से कम नहीं था, जिसका सूत्रपात ग्रामोफ़ोन, रेडियो और सिनेमा की संयुक्त उपस्थिति से संभव हुआ था।

न्यू थिएटर्स ने 1933 में प्रेमांकुर अतोर्थी की *यहूदी की लड़की* रिलीज़ की, जिसमें कुंदन लाल सहगल द्वारा गाई ग़ालिब की मशहूर ग़ज़ल 'नुक्ताचीं है ग़म-ए-दिल' पेश की गई, जिसने लोकप्रिय सिनेमाई विधा के रूप में ग़ज़ल के लहज़े को निर्धारित करने में अहम भूमिका निभाई। राघव मेनन के अनुसार :

> सहगल ने ग़ज़ल को गाने की जो तकनीक अपनाई वह उनकी अपनी ईजाद रही होगी। अगर ग़ालिब ने उन्हें *नुक्ताचीं* की बेहतरीन अदायगी करते हुए सुना होता तो यह ग़ौर करके ख़ुश होते कि सहगल ने कैसे उनके अल्फाज़ को बग़ैर बाजे-गाजे के और सीधे दिल से उतार कर रख दिया। सहगल की ग़ज़ल का संगीत चूल्हे पर रखी पानी की केतली के नीचे जलती मद्धम लौ की तरह है। दर्द से डबडबाते शब्द और संगीतकार की कोशिश मिलकर आपको यह एहसास कराती है कि ख़ूबसूरत छंदों के मार्मिक सफ़र की हमसफ़र दरअसल धुन की लौ है।[19]

गीतों के भावों को रेखांकित करते चलने की उनकी विशिष्ट शैली ने ग़ज़ल को लोकप्रिय बनाने में सहगल को एक ऐतिहासिक भूमिका प्रदान की। न्यू थिएटर्स में शामिल होने के बाद भी सहगल ग़ज़ल गाते रहे, जिनमें से अधिकांश ग़ैर-फ़िल्मी अल्बम के रूप में हिन्दुस्तान रिकॉर्ड के द्वारा ध्वन्यांकित करके बेची गईं।[20] अहम बात यह कि ग़ालिब और सीमाब अकबराबादी जैसे चुनिंदा शायरों की ग़ज़लें गाकर, सहगल ने गायक और शायर के बीच एक अनोखी साझेदारी की ज़मीन तैयार की। प्राण नेविल लिखते हैं :

> सहगल पहला कलाकार था जिसके ग़ालिब को गाने का अंदाज़ इतना लोकप्रिय हुआ, और इस प्रकार शायर को उन लोगों के बीच भी प्रसिद्धि और लोकप्रियता हासिल हुई जो उर्दू दाँ नहीं थे... ग़ालिब के कृतित्व से सहगल का चयन अद्भुत था और यही चयन सोहराब मोदी द्वारा 1954 में निर्मित *मिर्ज़ा ग़ालिब* में भी दोहराया गया।[21]

सहगल की ग़ज़लों के निजी अल्बम की लोकप्रियता ने श्रव्य क्षेत्र में सांगीतिकता के एक नए प्रभाव क्षेत्र का निर्माण किया, और आम श्रोताओं तथा शौक़िया गायकों ने सहगल की गायकी का अनुकरण करना शुरू कर दिया। सामग्री के लिए ग्रामोफ़ोन उद्योग की

---

[19] राघव मेनन (1989) : 112-13.

[20] सुरेश चाँदवणकर के बताये आँकड़ों के अनुसार, सहगल साहब ने 33 ग़ज़लें रिकॉर्ड कीं. उनके रिकॉर्ड ज्याँ-ओ-फ़ोन, एचएमवी और कोलंबिया रिकॉर्ड्स द्वारा भी रिलीज़ किए गए : http:// members.tripod.com/ oldies_ club/ klsaigal.htm. 15 दिसम्बर, 2016 को देखा.

[21] सोहराब मोदी (2011) : 52-53.

अदम्य भूख ने ऐसी प्रतिभाओं की एक नई खेप पैदा कर दी जिन्होंने निजी महफ़िलों में अवसर देने वाले रसिकों को निराश नहीं किया। ध्वन्यांकित प्रारूप में अपनी अनुकरणीय शैली में ग़ालिब की शायरी को उकेर कर सहगल ने ग़ज़ल का एक नया श्रोता समुदाय खड़ा करने में एक अहम भूमिका निभाई (चित्र 9.1)। अदबी शायरी पर ज़ोर देने के साथ-साथ शायरों की पहचान को रेखांकित करने के सहगल के अंदाज़ ने ग़ज़ल को आसानी से पहचानी जाने, उसको याद रखने और बार-बार सुने जाने के लिए मुफ़ीद बनाया। इसके अलावा, ग़ज़ल का सांगीतिक रूप भी सावधानीपूर्वक गढ़ा गया: तवे के एक ओर तीन मिनट का ध्वन्यांकन ही संभव था लिहाज़ा पूर्व प्रकाशित, किंचित लंबी ग़ज़लों के चुनिंदा अश'आर ही गाकर उनमें भरे जा सकते थे। तीन मिनट बीस सेकंड में ग़ज़ल गाने के इसी अनुशासन के कारण हर सुबह सात बजकर सत्तावन मिनट में रेडियो सीलोन के श्रोताओं तक कुंदन लाल सहगल की आवाज़ पहुँच जाया करती थी। फ़िल्मों के लिए शायरी के ऐसे अंश चुने जाते थे जो सहल उर्दू में और फ़िल्म की कहानी से भी मेल खाते थे। इस तरह विविध श्रोताओं पर अपनी पकड़ बनाये रखने के क्रम में ग़ज़ल का पाठ मौखिक, प्रकाशित और श्रव्य माध्यमों के अनुसार लगातार बदलता रहा।

चित्र 1: एचएमवी–ईसीएलपी 2640 का रिकॉर्ड कवर। अपनी अलहदा भावात्मक शैली में गाकर कुंदन लाल सहगल ने ग़ज़ल श्रोताओं की एक नयी जमात खड़ी की. इस ग्रामोफ़ोन रिकॉर्ड के केंद्र में चित्र *यहूदी की लड़की* (1933) से है जिसके लिए सहगल ने ग़ालिब की *नुक्ता चीं है ग़म-ए-दिल* गाया.

रूमानियत से लबरेज़ और अभिव्यक्ति में समृद्ध ग़ालिब की ग़ज़लों को सिनेमा में एक नई जगह मिल गई। हालाँकि, पत्रकारों और काव्य रसिकों की शिकायत रही है कि फ़िल्मी गाने की माँग के अनुसार मूल शब्दों में रद्दोबदल कर दिया जाता था। *फ़िल्मफेयर* के एक लेख में, चित्रदूत ने चुटकी ली कि ऐतिहासिक अनारकली से कोई सौ वर्षों बाद लिखी गई ग़ालिब की *ग़ज़ल* का प्रयोग करने के चलते इम्पीरियल की *अनारकली* (1935) 'एक कालदोष का शिकार' हो गई है।[22] और भी तरीक़ों से ग़ालिब की शायरी को फ़िल्मी गानों के लिए अनुकूलित किया गया था। एक लोकप्रिय ब्लॉग पर हुई एक परिचर्चा ने ग़ालिब की एक मशहूर पंक्ति के एक दिलचस्प उदाहरण की ओर मेरा ध्यान खींचा जिसे फ़िल्म *ठोकर*(1939) के लिए वहीदन बाई द्वारा गाई एक ग़ज़ल में चतुराईपूर्वक उपयोग किया गया है। यद्यपि इस ग़ज़ल के बोल पी.एल. संतोषी ने लिखे थे लेकिन इसका श्रेय ग़ालिब को भी दिया गया है। भ्रम इसलिए होता है क्योंकि ग़ज़ल का

[22] चित्रदूत (1969) : 42.

02Sikha_Layout 1 22-02-2024 15:14 Page 36

एक शेर ग़ालिब की एक मशहूर ग़ज़ल से लिया गया है :

उसको देखे से जो आ जाती है मुँह पर रौनक़
वो समझते हैं कि बीमार का हाल अच्छा है।

पी.एल. संतोषी द्वारा लिखी ग़ज़ल की शुरुआती पंक्तियाँ ये हैं :

अच्छे ईसा हो मरीज़ों का ख़्याल अच्छा है
हम मर जाते हैं तुम कहते हो हाल अच्छा है।

इस ब्लॉग पर उर्दू शायरी के क़द्रदानों ने अनुमान लगाया कि हो सकता है संतोषी ग़ालिब के शेर से प्रभावित रहे हों क्योंकि वे अपनी पंक्तियों में ग़ालिब की जैसी ही बहर का इस्तेमाल करते हैं (अतुल 2012)। लेकिन यह भी संभव है कि संतोषी ने जानबूझकर ग़ालिब का एक मशहूर शेर उधार ले लिया हो, ताकि शब्दों की सरलता और मानी की गहराई में संतुलन बना रह सके। लोगों के बीच इस ग़ज़ल या शेर की जीवंत वाक़फ़ियत का फ़ायदा उठाने के साथ-साथ उसे फ़िल्मी गीत के रूप में इस्तेमाल करने की मंशा इस चयन और संशोधन में साफ़ है।

बेगम अख़्तर और ग़ज़ल

पिछली सदी के चौथे दशक में ध्वन्यांकित संगीत के दूसरे और बाद के चरणों में, ग़ज़ल गायकी की सबसे प्रमुख प्रतिनिधियों में से एक, फ़ैज़ाबाद की अख़्तरी बाई का उदय भी उतना ही महत्त्वपूर्ण था। अख़्तरी से बेगम अख़्तर के रूप में ख्याति मिलने तक उनकी यात्रा का दो दशकों से अधिक का इतिहास है जिसमें उन्होंने निजी महफ़िलों, थिएटर, ग्रामोफ़ोन कंपनियों, रेडियो और सार्वजनिक संगीत कार्यक्रम को समान पटुता से अपनी आवाज़ बख़्शी (चित्र, 9.2)। अख़्तरी ने सुगम शास्त्रीय संगीत में सशक्त प्रशिक्षण की अपनी जड़ों से ग़ज़ल गायकी के आशु-रूप को बरक़रार रखते हुए अपनी एक अलग पहचान बनाकर रखी। हालाँकि अवध की महफ़िलों ने अख़्तरी के संगीत के जुनून और अभ्यास को खाद-पानी दिया, कलकत्ता शहर ने उनकी आवाज़ को एक बहुत बड़ी आबादी तक पहुँचाया। मेगाफ़ोन रिकॉर्ड्स के साथ एक अनुबंध के तहत अख़्तरी ने कई तवे रिकॉर्ड किए जिनमें से बहज़ाद लखनवी द्वारा लिखी मशहूर ये ग़ज़ल भी है :

दीवाना बनाना है तो दीवाना बना दे।

इस उर्वर दौर में अख़्तरी फ़िल्मों, थिएटर और लखनऊ की महफ़िलों में, कलकत्ता और अन्य जगहों पर भी गा रही थीं। सन 1942 में, अख़्तरी को महबूब ख़ान की *रोटी* में गायिका-अभिनेत्री का एक प्रमुख किरदार दिया गया। *रोटी* के संगीतकार अनिल विश्वास ने लिखा है

02Sikha_Layout 1 22-02-2024 15:14 Page 37

कि वह अख़्तरी द्वारा गाई एक ग़ैर फ़िल्मी ग़ज़ल 'दीवाना बनाना है तो दीवाना बना दे' की 'सदाबहार' धुन को फ़िल्म की ग़ज़ल के लिए उठाने का लोभ संवरण नहीं कर सके।

रहने लगा है दिल में अँधेरा तेरे ब-ग़ैर।

आरज़ू लखनवी की इस ग़ज़ल ने अख़्तरी बाई को अब फ़िल्मों में भी इसी ग़ज़ल को अदा करने का अवसर दिया। यह दिखाता है कि किस तरह संगीतकार, एक विशेष भंडार से धुन लेते हुए, ग़ज़ल की बारीकियों को उभारने में महारत रखने वाली अख़्तरी बाई को सुनने के अनुभव को फिर से देख पाने का भी मौक़ा श्रोताओं को दे रहे थे (मेंहँदी 1975)।

हालाँकि अख़्तरी की ख्याति ग़ज़लों, दादरा और टप्पा की महान गायिका के रूप में हुई, मैं ग़ज़लों के संगीतकार के रूप में उनकी भूमिका को रेखांकित करना चाहूँगी जो कि एक कलाकार के तौर पर उनकी अलग छवि पेश करता है। बक़ौल जी.एन. जोशी, 'अख़्तरी के पास उपयुक्त ग़ज़ल चुनने और उसे उपयुक्त धुन से सजाने की अलौकिक क्षमता थी'।[23] ग़ालिब, मीर, दाग़ और मोमिन जैसे ऐतिहासिक शायरों की शायरी को संगीतबद्ध करने के अलावा अख़्तरी ने अपने कुछ प्रतिभाशाली समकालीनों और लोकप्रिय शायरों, मसलन फ़िराक़ गोरखपुरी, हाफ़िज़ जालंधरी, बहज़ाद लखनवी, जिगर मुरादाबादी और शकील बदायूनी के साथ रचनात्मक संबंध बनाया।[24] बेगम अख़्तर पर लिखे अपने संस्मरण में शांति हीरानंद ने उनके होटल के कमरे में शायरों और संगीत प्रेमियों के साथ हुए आशु सत्रों का वर्णन किया है जब वह अपने संगीत कार्यक्रम में शामिल होने के लिए दिल्ली जाया करती थीं।[25] नौशाद द्वारा वर्णित बम्बई में 1940 के दशक में शायरों की संगति में होने वाली महफ़िलों का ज़िक्र मैं पहले ही कर चुकी हूँ। कहना न होगा कि बेगम अख़्तर ने पुरुषों की सामाजिक और साहित्यिक इलाक़े में न केवल एक कलाकार बल्कि एक संरक्षक के रूप में भी प्रवेश किया। हीरानंद के अनुसार, बहज़ाद लखनवी उनके 'दरबारी कवि' थे जिन्होंने अपने अधिकांश शेर उनको ध्यान में रखकर ही लिखे थे। आख़िर लखनवी की लिखी ग़ज़ल 'दीवाना बनाना है तो दीवाना बना दे' ही तो थी जिसने महबूब ख़ान की रोटी से कहीं पहले अख़्तर को सुर्ख़ियों में ला दिया था। हीरानंद द्वारा वर्णित एक और दिलचस्प प्रसंग बॉम्बे सेंट्रल रेलवे स्टेशन में हुई मुठभेड़ है जहाँ शकील बदायूनी ने अख़्तर को एक चिट सौंपी। बॉम्बे से लखनऊ वापस आते हुए अख़्तर ने *ऐ मोहब्बत तेरे अंजाम पे रोना आया* की धुन तैयार की, जिसे एक सप्ताह के अंदर अख़्तरी ने लखनऊ रेडियो पर गाया और जो उनकी सफलतम ग़ज़लों में से एक साबित हुई।[26]

बहुत सारा शोध बी.वी. केसकर की प्रसारण नीतियों और ऑल इंडिया रेडियो के 1950 के दशक की राष्ट्रवादी परियोजना के तहत संगीत के प्रतिमानीकरण पर केंद्रित है, उस अनुपात में

---

[23] जी.एन. जोशी (1984) : 69.

[24] मेरी जानकारी में बहुत-सी महिलाओं ने तवायफ़ पृष्ठभूमि से आकर भी कवियों के साथ एक रचनात्मक रिश्ता साझा किया. लेकिन यहाँ मैं जो रेखांकित करना चाहती हूँ वो यह कि बेगम अख़्तर के रचनात्मक रिश्ते सार्वजनिक दायरे में अधिक थे.

[25] शांति हीरानंद (2005) : 140.

[26] वही : 135.

02Sikha_Layout 1 22-02-2024 15:14 Page 38

चित्र 2: बेगम अख़्तर ने अपने समकालीनों और लोकप्रिय शायरों के साथ रचनात्मक संबंध बनाया और रेडियो व निजी महफ़िलों में गाकर ग़ज़ल को लोकप्रिय बनाया। चित्र साभार : संगीत नाटक अकादमी.

ऑल इंडिया रेडियो (एआईआर) के आरंभिक इतिहास पर कम सामग्री उपलब्ध है। जिस समय फ़नकार और ग्रामोफ़ोन कंपनियों के प्रबंधक 1920 और 1930 के दशक के दौरान नई प्रतिभाओं की तलाश कर रहे थे, उसी दौर में एआईआर के प्रसारण केंद्र नए बुनियादी संजालों का हिस्सा बनकर उभरे जहाँ नया सौंदर्य बोध विकसित हो रहा था। जब 1940 के दशक में औपनिवेशिक प्रशासन केवल नौ शहरों से प्रसारण कर रहा था, लखनऊ में एक रेडियो स्टेशन की मौजूदगी दिखाती है कि कैसे एक ऐसे शहर के सांस्कृतिक जीवन के पुनर्गठन में रेडियो जैसे संस्थान ने एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई जो पहले से मौखिक उर्दू शायरी और उस पर आधारित सांगीतिक प्रदर्शन की परंपराओं का पालना रहा था। डेविड लेलीवेल्ड ने बताया है कि एआईआर के प्रसारण केंद्रों की भौगोलिक अवस्थिति 'यह तय करती थी कि किस तरह के लोगों को माइक्रोफ़ोन पर बुलाया जाएगा'।[27] अख़्तरी बाई ऐसी ही एक फ़नकार थीं जिन्हें लखनऊ के केंद्र निर्देशकों द्वारा उनकी ठुमरी, दादरा और ग़ज़लों को रिकॉर्ड करने के लिए राज़ी किया गया था। शायद रेडियो ने अख़्तरी को उनके जीवन के एक ऐसे समय में गुमनाम रहकर गाने की सहूलियत और अंततोगत्वा पहचान दोनों प्रदान की, जब वह लखनऊ के एक संभ्रांत परिवार से ताल्लुक़ रखने वाले वकील से शादी के बाद खुलकर गाने के बारे में लाचार महसूस कर रही थीं। आकाशवाणी के माध्यम से ही अख़्तर ने ख़ुद को एक गुणी फ़नकार के रूप में स्थापित किया। सन 1951 में, वह दिल्ली में शंकर लाल उत्सव में गाने के लिए आमंत्रित की गईं तो उनका परिचय बेगम अख़्तर के रूप में दिया गया था। बेगम अख़्तर की जीवनी में, रीता गांगुली लिखती हैं :

> और अब यह दिनचर्या-सी बन गई थी कि जब उनके शौहर अदालत चले जाते, बेगम साहिबा आकाशवाणी की ओर भागतीं, अपना कार्यक्रम रिकॉर्ड करातीं और पति की वापसी के पहले लौट आतीं। संगीतकार और शानदार हारमोनियम वादक मदन मोहन के

[27] डेविड लेलीवेल्ड (1994) : 116.

02Sikha_Layout 1 22-02-2024 15:14 Page 39

> साथ अक्सर होने वाली बातचीत में वे उनको वली की याद दिलाते। उन्होंने ग़ौर किया कि इन छह सालों के दौरान, प्रदर्शन का संसार पूरी तरह बदल चुका है, और सारे संगीतकार, शायर, नाटककार आकाशवाणी के इर्द-गिर्द चक्कर काट रहे थे। संगीतकारों और संगीतज्ञों के साथ हुए इस संपर्क ने उन्हें समकालीन मौसिकी से अवगत कराया।[28]

लखनऊ रेडियो स्टेशन के गांगुली के वर्णन से शायरों, संगीतकारों और नाटककारों को साथ लाने वाली एक ऐसी जगह का पता मिलता है जो हमें यह भी बताती है कि कैसे बुनियादी संरचना और सौंदर्यबोध एक-दूसरे के साथ गुत्थम-गुत्था हैं। (लार्किन 2013)। लखनऊ केंद्र पर काम करने वाले तलत महमूद और मदन मोहन सहित कई फ़नकार सिनेमा में अपनी प्रतिभा दिखाने मुंबई चले गए। जग ज़ाहिर है कि, सिनेमा के ग़ज़ल सम्राट के रूप में मशहूर होने वाले मदन मोहन बेगम अख़्तर से तब मिले जब वह आकाशवाणी लखनऊ में कार्यक्रम सहायक के रूप में कार्य कर रहे थे, और दोनों लंबे समय तक दोस्त बने रहे ।[29] एक अन्य ग़ज़ल विशेषज्ञ रोशन जिन्होंने आकाशवाणी के दिल्ली केंद्र में बारह सालों तक काम किया जहाँ वे बेगम अख़्तर से मिले जो नियमित रूप से वहाँ रिकॉर्ड किया करती थीं। इसी प्रकार शांति हीरानंद आकाशवाणी पर *महफ़िल* जैसी रिकार्डिंग के बारे में लिख चुकी हैं जिसमें अख़्तर और कैफ़ी आज़मी आशु सत्र में शेर पढ़ते थे जिन्हें अख़्तर फ़ौरन संगीतबद्ध करती जाती थीं।[30]

पिछली सदी के चौथे और पाँचवें दशक में एक गायिका-अभिनेत्री के रूप में और 1950 में कुछ गानों के लिए एक पार्श्वगायिका के रूप में काम करने के उनके संक्षिप्त कार्यकाल के सिवाय यद्यपि अख़्तर ने हिंदी की व्यावसायिक फ़िल्मों के लिए बमुश्किल ही गाया, एक सांगीतिक विधा के रूप में ग़ज़ल के लिए श्रोताओं का लोकप्रिय आधार बनाने में उन्होंने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई जिसने सिनेमा में इसकी उपस्थिति को मज़बूत बनाने में सहायता की।[31] मदन मोहन की 'कलात्मक रचनात्मकता' पर बेगम अख़्तर के प्रभाव को रेखांकित करते हुए, जी.एन. जोशी ने सुझाया है कि बेगम अख़्तर द्वारा गाई हुई अनेक गज़लों को उन्होंने अपनी फ़िल्मी धुनों में पुनः पेश किया।[32] दीगर, जीवनियों में भी उल्लेख मिलता है कि मुंबई फ़िल्म उद्योग के शायरों और संगीतकारों के साथ उनके घनिष्ठ संबंध रहे हैं जिनमें कैफ़ी आज़मी, शकील बदायूनी, मदन मोहन और ख़य्याम जैसे नाम शामिल हैं।

---

[28] रीता गांगुली (2008) : 129.

[29] जी.एन. जोशी (1984) : 70.

[30] यह रिकॉर्डिंग यूट्यूब में देखी जा सकती है : https:// www.youtube.com/ watch?v=FvSi6ZlpL6E(15, दिस. 2016 को देखा गया).

[31] बेगम अख़्तर ने 1950 में मदन मोहन द्वारा रची गई दो *ग़ज़लें* गाईं : *दाना पानी में* 'ऐ इश्क़ मुझे कुछ और याद नहीं' *(1953)* और *एहसान में* 'हमें दिल में बसा भी लो' *(1954).* दुर्भाग्यवश बाद वाले गाने का रिकॉर्ड उपलब्ध नहीं है.

[32] जी.एन. जोशी (1984) : 70.

02Sikha_Layout 1 22-02-2024 15:14 Page 40

पार्श्वगायन का युग और हिंदी सिनेमा में ग़ज़ल

> *चालीस के दशक में पार्श्वगायन और गीतकारों की भूमिका मज़बूती से स्थापित होने के बाद ग़ज़ल एक नए चरण में प्रवेश हुई।* (अनिल बिस्वास, 1975)

1940 के दशक में भारतीय सिनेमा में स्टूडियो युग के अंत की शुरुआत हुई जबकि मुंबई उद्योग का सबसे महत्त्वपूर्ण केंद्र बन गया। फ़िल्म संगीत के क्षेत्र में सबसे बड़ा परिवर्तन था गायक-अभिनेताओं के युग का धीरे-धीरे तिरोहित होना, जिससे स्वतंत्र पार्श्वगायन के लिए रास्ता तैयार हुआ। पार्श्वगायन युग के आने के बाद फ़िल्म संगीत के प्रत्येक विभाग में विशेषज्ञों की माँग बढ़ी। विशेषज्ञता पर ज़ोर के इसी चरण के दौरान केदार शर्मा और डी.एन. मधोक जैसे गीतकारों को उद्योग में महत्त्व मिलना शुरू हुआ। 1940 के दशक में प्रगतिशील लेखक आंदोलन का उभार भी हुआ। कैफ़ी आज़मी, मजरूह सुल्तानपुरी, साहिर लुधियानवी और जाँ निसार अख़्तर जैसे इस आंदोलन के कुछ दिग्गज शायर फ़िल्मी गीतकार बने और साधारण, रोज़मर्रा की हिंदुस्तानी ज़बान में ग़ज़लें लिखकर इसे श्रोताओं के बड़े हिस्से तक पहुँचाया।

गायक-अभिनेता युग की समाप्ति के साथ, प्रतिभाशाली पार्श्व गायकों की एक नई पौध जैसे लता मंगेशकर, मुकेश, मोहम्मद रफ़ी, गीता दत्त, आशा भोसले, तलत महमूद और मन्ना डे पर फ़िल्म उद्योग की निर्भरता बढ़ गई। गाने की माँग के अनुसार पार्श्वगायक काफ़ी समय गाने के अभ्यास, तलफ़्फ़ुज़, भावाभिव्यक्ति, साँसों के उतार-चढ़ाव और सुरों को साधने में ख़र्च करने लगे (झींगन 2009)। इससे पर्दे पर संदर्भ और गाने में अभिव्यक्त भाव पर ज़ोर देने और दर्शकों पर समग्र प्रभाव पैदा करने में अभिनेता को मदद मिली। कुल मिलाकर पार्श्वगायन की तकनीक ने अभिनेताओं की लोकप्रियता में महत्त्वपूर्ण रूप से योगदान दिया।

कलकत्ता में न्यू थिएटर्स की धीमे अवसान ने सहगल, अनिल बिस्वास और बाद में तलत महमूद जैसे फ़नकारों को मुंबई जाने के लिए मजबूर कर दिया था। लखनऊ में पैदा और बड़े हुए तलत महमूद महफ़िल संस्कृति से काफ़ी लाभान्वित हुए थे। अंबरीश मिश्र (1990) ने उल्लेख किया है कि 'यह लखनवी तहज़ीब थी जिसने तलत महमूद को उर्दू शायरी, साहित्य और संगीत की दुनिया में उतारा।' किंतु ज़्यादा महत्त्वपूर्ण बात यह है कि ग्रामोफ़ोन रिकॉर्ड और रेडियो में कुंदनलाल सहगल की आवाज़ सुनकर महमूद ने अपनी स्वयं की अंतराभिमुखी और सूक्ष्म गायन शैली विकसित की। निजी महफ़िलों में गाने से लेकर लखनऊ में आकाशवाणी के लिए गाने का अवसर मिलने तक महमूद का सफ़र कुछ हद तक सहगल की तरह ही रहा। अंततः, फ़य्याज़ हाशमी द्वारा लिखित 'तस्वीर तेरी दिल मेरा बहला न सकेगी' जैसी ग़ज़लों के ग्रामोफ़ोन रिकॉर्डों के माध्यम से महमूद ने ख्याति हासिल कर ली। बॉम्बे में उनका यह पहला ब्रेक था जब उन्हें *आरज़ू* (1950) के लिए 'ऐ दिल मुझे ऐसी जगह ले चल जहाँ कोई न हो' गाने का मौक़ा मिला। अनिल बिस्वास के संगीत और मजरूह सुल्तानपुरी

02Sikha_Layout 1 22-02-2024 15:14 Page 41

चित्र 3 : तलत महमूद की भावपूर्ण आवाज़ में गाये गए फिल्म *आरज़ू* के *ऐ दिल मुझे ऐसी जगह ले चल* में दिलीप कुमार की अदायगी (निर्दे. शाहिद लतीफ़, 1950).

द्वारा लिखा यह गाना इस बात का सटीक उदाहरण था कि कैसे एक भावपूर्ण पार्श्व आवाज़ एक अभिनेता की अदाकारी में चार चाँद लगा सकता था।

दृश्य बंध और मिज़ाज के लिहाज़ से, *शाहजहाँ* (1946) में सहगल द्वारा गाई ग़ज़ल इस ग़ज़ल के काफ़ी क़रीब थी :

ग़म दिए मुस्तक़िल, इतना नाज़ुक है दिल
ये न जाना, हाय हाय ये ज़ालिम ज़माना।

नौशाद के संगीत और मजरूह सुल्तानपुरी के लिखे गाने जैसे 'ग़म दिए मुस्तक़िल' से भावपूर्ण आवाज़ और गीतों की गहरी समझ से मेल खाने वाली सहगल की मुलायम गायकी की शैली सामने आई। फ़िल्म में सहगल ने दरबारी गायक की भूमिका निभाई जिसने मजरूह सुल्तानपुरी और ख़ुमार बाराबंकवी को 'कब बरबाद करेगी हमें मालूम न था' और 'जब दिल ही टूट गया, हम जी के क्या करेंगे' जैसे गाने लिखने का अवसर दिया। हम यहाँ उल्लिखित तीनों गानों में, सहगल को स्वगत गाते हुए, अकेले उदास व्यक्ति के रूप में देखते हैं। कैमरा दूर रहता है और उनकी अपेक्षाकृत सख़्त काया के बहुत नज़दीक जाने से बचता है। इसके विपरीत, *आरज़ू* के गाने के दृश्यबंध में दिलीप कुमार तलत महमूद के गाये गाने में अदाकारी कर रहे हैं जहाँ तलत की आवाज़ में हलकी सी थरथराहट नायक की नज़ाकत को और बढ़ा देती है। 'ऐ दिल मुझे ऐसी जगह ले चल' के अंतिम अंतरे में, दिलीप कुमार एक मिड-शॉट में कैमरे की ओर देखते हुए अपनी नाज़ुक स्थिति का दर्द अनुभव करने के लिए दर्शकों/श्रोताओं को आमंत्रित करते हैं (चित्र 9.3)।

सांगीतिक विधा के रूप में ग़ज़लों के अपने अध्ययन में, रेगुला क़ुरैशी (1990) का मानना है कि सांगीतिक अभिव्यक्ति गीतों के साथ एक व्यक्तिगत संबंध बनाने में गायक की मदद करती है। तलत महमूद की आवाज़ की सहायता से पर्दे पर दिलीप कुमार की संवेदनशील

02Sikha_Layout 1 22-02-2024 15:14 Page 42

चित्र 4: एचएमवी–ईसीएलपी 2265 का रिकॉर्ड कवर. 1950 के दशक में दिलीप कुमार के लिए गाकर तलत महमूद ने हिन्दी फ़िल्मों में ग़ज़ल को लोकप्रिय बनाया. तलत की आवाज़ में हल्की सी थरथराहट नायक की नज़ाकत और बढ़ा देती है. जैसा कि मेहदी हसन ने बताया, दोनों की जोड़ी के बड़ी संख्या में क़द्रदान पूरे उपमहाद्वीप में थे. चित्र लेखक के व्यक्तिगत संग्रह से.

अदाकारी शब्दों को अपना बना लेती है। 1950 के दशक के शुरुआती सालों में ही दिलीप कुमार की पहचान ऐसे अग्रणी सितारे के रूप में बन गई थी जिन्हें अपनी अदाकारी की नैसर्गिक शैली, स्वाभाविकता और उर्दू भाषा पर बेदाग़ महारत के लिए जाना जाता था, और इस प्रकार उन्होंने लोक मानस में ग़ज़ल की सांगीतिक विधा को ठोस स्वीकार्यता हासिल करने में मदद की।[33] लेकिन जैसा कि मेघनाद देसाई ने उल्लेख किया है, उनकी फ़िल्मों के समीक्षकों ने ग़ौर किया कि दिलीप कुमार ख़ुद को ट्रैजिक नायक के किरदार में ख़ुद को दोहरा रहे थे ।[34] मेरा मानना है कि इतने सालों के दौरान दिलीप कुमार के लिए तलत महमूद द्वारा गाए जाने वाले गानों ने उन्हें 'ट्रैजिक हीरो' के रूप में पहचान दिलाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।

तलत और दिलीप कुमार की जोड़ी, ग्रामोफ़ोन रिकॉर्ड और रेडियो के ज़रिये इन गानों की लहर का निर्माण न केवल भारत में बल्कि उपमहाद्वीप में भी देखी गई (चित्र 9.4)। कहा गया है कि ख़ुद को एक ग़ज़ल गायक के रूप में स्थापित करने की कोशिश करते हुए, मेहदी हसन ने रावलपिंडी में एक संगीत समारोह में तलत महमूद की दो ग़ज़लों को गाने के लिए चुना, जिसने श्रोताओं को 'मंत्रमुग्ध' कर दिया (*द हिंदू*, (1991)। दोनों गज़लें पर्दे पर दिलीप कुमार के ऊपर फ़िल्माई गई थीं। जैसा कि मेहदी हसन ख़ुद बताते हैं :

> तलत साब की आवाज़ के माध्यम से मुझे अपने गले में सोने के ख़ज़ाने का सुराग़ मिला। 1952 का साल था, जब दिलीप कुमार जितना हिंदुस्तानियों के लिए 'ट्रैजडी किंग' थे उतना ही हम पाकिस्तानियों के लिए भी। और तलत साब उन दिनों इस महान आशिक़ की आवाज़ थे। मेरी कमसिन उम्र में 'एक मैं हूँ एक मेरी बेकसी की शाम है', और 'हुस्न वालों को न दिल दो, वो मिटा देते हैं' तलत और दिलीप साब दोनों ने मुझ पर अमिट छाप छोड़ी।

आइए हसन के ज़िक्र में आई दो ग़ज़लों को समझते हैं।

---

[33] ठीक उसी साल *बाबुल* (1950) के लोकप्रिय गानों के माध्यम से दिलीप कुमार और तलत महमूद की जोड़ी स्थापित हुई.

[34] मेघनाद देसाई (2004) : 38-39.

02Sikha_Layout 1 22-02-2024 15:14 Page 43

महफ़िल शैली की ग़ज़ल

तलत महमूद की गाई और दिलीप कुमार द्वारा पर्दे पर जी गई *बाबुल* (1950) की ग़ज़ल 'हुस्न वालों को न दिल दो' में आवाज़ और शायरी को प्रमुखता देने के क्रम में साधारण लय में कम से कम वाद्य यंत्रों का इस्तेमाल करके संगीतबद्ध किया गया था। गाने की शुरुआत हारमोनियम में एक छोटे सुर के साथ होती है और कैमरा ऊषा (मुनव्वर सुल्ताना) पर केंद्रित रहता है जो गाने में प्रमुख श्रोता है। कैमरा दिलीप कुमार को अग्रभाग में फ्रेम करता है जबकि पृष्ठभूमि में तीन महिलाएँ श्रोता के रूप में बैठी हैं। चरित्रों को इस तरह फ्रेम करके और गायक व प्रमुख श्रोताओं के बीच इशारों और पॉइंट-ऑफ़-व्यू (मुखामुखम) शॉट्स का प्रयोग करके पूरे दृश्यबंध को महफ़िल शैली में प्रस्तुत किया गया है, जहाँ सुनना गायन की तरह ही अदाकारी का हिस्सा है। प्रत्येक शेर की शुरुआती पंक्ति बिना तबले की थाप के आशु शैली में गाई गई है। फिर यह पंक्ति दोहराई जाती है, इस प्रकार शेर की दूसरी पंक्ति में इससे उत्पन्न होने वाली प्रत्याशा और प्रतिक्रिया का निर्माण करती है। प्रत्येक अंतरा की पहली पंक्ति में कैमरा दिलीप कुमार पर ठहरता है, लेकिन उनकी भाव-भंगिमा और आँखों का संचालन श्रोताओं की उपस्थिति को उभारती है। कुछ ख़ास मौक़ों पर दिलीप कुमार आगे झुकते हैं और शाब्दिक खेल की ओर ध्यान आकर्षित करने के लिए हाथ फैलाते हैं। प्रत्येक शेर की अंतिम पंक्ति इसी प्रत्याशा को आगे बढ़ाने के लिए समयबद्ध है, क्योंकि पर्दे पर के श्रोता पहले से ही रदीफ़ और काफ़िया समझ चुके हैं। इन पलों में जब शब्दों के अर्थ बयान करने की कोशिश हो रही होती है, कैमरा मुनव्वर सुल्ताना पर ठहरता है जिससे वह गाने में मुख़ातिब है। पॉइंट-ऑफ़-व्यू (मुखामुखम) शॉट्स, जो शब्दों की ही तरह नाटकीय अंदाज़ में प्रस्तुत करने के लिए समयबद्ध हैं, श्रोताओं के बीच रदीफ़ और क़ाफिया साझी समझ को व्यंजित करने वाले आपसी इशारों के अंग बन जाते हैं, जिससे अदाकारी की इस अंतरंग शैली का आनंद और बढ़ जाता है। मौखिक, श्रव्य और सिनेमाई को एक साथ हरकत में लाकर एक सांगीतिक विधा के रूप में यहीं पर ग़ज़ल अपना काम करती है।

चित्र 5: ग़ज़ल में ज़नाना महफ़िल में नाज़ के किरदार में मीना कुमारी *नग़्मा-ओ-शेर की सौग़ात किसे पेश करूँ* में अदायगी करते हुये. (निर्दे. वेद-मदन, 1964).

इस्लामिक परिवेश वाली 1950 और 1960 के दशक की कई ऐतिहासिक और सामाजिक फ़िल्मों में मुशायरे और महफ़िलें ग़ज़ल पेश करने के लिए केंद्रीय स्थल बन जाते हैं, जहाँ गायक-शायर मोहब्बत की विभिन्न दशाएँ बयान करने का ऐसा मंच पाता है, जो फ्रांसिस प्रिचेट के

02Sikha_Layout 1 22-02-2024 15:14 Page 44

चित्र 6. एजाज़ के किरदार में सुनील दत्त मुशायरे में *इश्क़ की गर्मी-ए-जज़्बात किसे पेश करूँ* गाते हुये, वह ग़ज़ल में चतुराई पूर्वक मीना कुमारी के शुरुआती मिसरे को चुनता है. (निर्दे. वेद-मदन, 1964).

अनुसार 'महज़ ज़ाती नहीं' है।[35] *ताज महल* (1963) में, जहाँगीर के मुग़ल दरबारी मुशायरे में जब नायिका 'जुर्म-ए-उल्फ़त पे हमें लोग सज़ा देते हैं' गाती है तब उसके लिए यह अतिक्रमण का पल बन जाता है। साहिर लुधियानवी का लिखा हुआ यह गीत एक अद्भुत मिसाल है जिसके ज़रिये यह समझा जा सकता है कि फ़िल्मी रणनीतियाँ, संगीत और गीत श्रोताओं के बीच किस तरह की तरतमता का निर्माण करते हैं। जैसे ही मुमताज़ महल (बीना राय) गाना शुरू करती हैं, यह स्पष्ट हो जाता है कि ग़ज़ल के माध्यम से किसकी सत्ता को चुनौती दी जा रही है। कैमरा गायिका मुमताज़ महल और प्रमुख श्रोता नूरजहाँ के बीच इंटरकट करता रहता है और प्रत्येक शेर की अंतिम पंक्ति पर श्रोता की प्रतिक्रिया नुमायाँ होती है। महफ़िल शैली की दूसरी महत्त्वपूर्ण ग़ज़लें हैं : 'नग़मा-ओ-शेर की सौग़ात किसे पेश करूँ' और 'हाले दिल यूँ उन्हें सुनाया गया' (*जहाँआरा*, 1964)। ज़्यादातर महफ़िल-शैली की ग़ज़लें बहुत कम साज़ के साथ सरल धुनों का उपयोग करती हैं, इनमें सांगीतिक अंतराल छोटे होते हैं ताकि आवाज़ और शायरी को बाक़ी तत्त्वों पर हावी होने का मौक़ा मिले। सच पूछा जाए तो इन ग़ज़लों में संगीत का प्रयोग मानी को परिवर्धित करने के लिए किया गया है (क़ुरैशी 1990)।

पर्दे पर प्रस्तुत की जाने वाली ग़ज़लों में भी महबूबा की प्रशंसा में गाये जाने वाले तारीफ़-गीत प्रमुख हैं। जैसे कि 'ये हवा ये रात ये चाँदनी' (1952) और 'चौदहवीं का चाँद हो' (1960), अथवा वे गाने जिनमें शायर भिन्न भावनात्मक स्थितियों का वर्णन करता है जिनसे वह गुज़र रहा है, जैसे कि :

तुझे क्या सुनाऊँ मैं दिलरुबा
तेरे सामने मेरा हाल है
(आख़िरी दाँव, 1958)

ऐ हुस्न ज़रा जाग तुझे इश्क़ जगाए
(मेरे महबूब, 1963)
दिल में एक जाने तमन्ना ने जगह पाई है
(बेनज़ीर, 1964)

[35] फ्रंचेस्का ओर्सीनी (सं.) (2007) : 18.

02Sikha_Layout 1 22-02-2024 15:14 Page 45

मोहब्बत ही न जो समझे वो ज़ालिम प्यार क्या जाने
(परछाई, 1952)

इन सभी ग़ज़लों में गायक और श्रोताओं के बीच शॉट/ रिवर्स शॉट वाला संपादन करके ग़ज़ल की ध्वन्यात्मक गुणवत्ता बढ़ायी गई है। इसके अलावा, आवाज़, धुन, पर्देतर सांगीतिक तत्त्व और शाब्दिक खेल जिसके तहत गायक शेर की अहम दूसरी पंक्ति को पहले रोकता है और फिर खोलता है – ये सब मिलकर एक गहरे भावनात्मक माहौल का सृजन करते हैं।

ये ग़ज़लें लिखे हुए रूप से लेकर गाए और सुने जाने तक के रूपांतरण को सहज ही रेखांकित करती हैं। गाने की ध्वन्यात्मक गुणवत्ता बढ़ाकर यह रूपांतरण उसकी भावात्मकता का विस्तार करता है। यह *ग़ज़ल* जैसी फ़िल्मों के दृष्टांत से स्पष्ट है, जहाँ मीना कुमारी एक शायरा का किरदार निभाती हैं। 'नग़्मा-ओ-शेर की सौग़ात किसे पेश करूँ' में, कैमरा महिला क़द्रदान श्रोताओं के साथ बैठी हुई मीना कुमारी को फ्रेम करता है, जिनमें से कुछ तो गाने के शब्दों को बाक़ायदा लिख रही हैं (चित्र 9.5)। उन्हें पता नहीं है लेकिन दर्शकों के लिए मौजूद नायक एजाज़ (सुनील दत्त) एक क्रांतिकारी शायर है जो तब तक ग़ज़ल के प्रति अपनी घृणा की घोषणा कर चुका था, लेकिन अब उसकी हवेली के बाहर टहलते हुए गायिका की शायरी और आवाज़ से अच्छा-ख़ासा प्रभावित नज़र आता है। मंत्रमुग्ध हुआ एजाज़ एक मुशायरे में ग़ज़ल ही गाने का निश्चय करता है। आग़ाज़ करते हुए चतुराईपूर्वक वह वही मिसरा चुनता है ताकि वह उस महिला का पता लगा सके जिसने 'नग़्मा-ओ-शेर की सौग़ात' गाया था। एजाज़ 'इश्क़ की गर्मी-ए-जज़्बात किसे पेश करूँ' गाता है (चित्र 9.6) और पुरुष श्रोता उसे दाद देते हैं, जबकि नाज़ आरा यानि मीना कुमारी और उसकी सहेलियाँ उसे चोरी की ग़ज़ल पढ़कर मुशायरा लूटने वाला उठाईगीर कहती हैं। चूँकि वह गाना जारी रखता है, हम मीना कुमारी को उसके जोशीले प्रदर्शन और चतुर शाब्दिक खेल के प्रति लट्टू होते हुए देखते हैं (चित्र 9.7)।

मिर्ज़ा ग़ालिब (1954) में, हम एक फ़क़ीर को ग़ालिब का क़लाम गाते हुए सुनते हैं जो शायर की जिज्ञासा को हवा देता है। तब फ़क़ीर उसे बताता है कि ग़ालिब की शायरी की दीवानी मोती बेगम ने उसे इन ग़ज़लों को गाना सिखाया है। *मिर्ज़ा ग़ालिब* में मोती बेगम का किरदार सुरैया ने निभाया है, जो न केवल ग़ालिब का क़लाम पढ़ती और सुनती है बल्कि उसको संगीतबद्ध करके गाती भी है जिससे आम जनता के बीच में उसका व्यापक प्रसार होता है। *मिर्ज़ा ग़ालिब* के अपने अंतर्दृष्टिपूर्ण विश्लेषण में भास्कर और ऐलेन ने तर्क किया है कि ग़ालिब और मोती बेगम के बीच काल्पनिक लेकिन गहन संबंधों पर ध्यान केंद्रित करके गीतों की अभिव्यंजक गुणवत्ता के ज़रिए फ़िल्म के मुख्य किरदारों की भावनात्मक तीव्रता और विविधता को नुमायाँ करती है।[36] सुरैया, रफ़ी और तलत महमूद द्वारा गायी आठ ग़ज़लों के माध्यम से उनकी शायरी पेश करते हुए सोहराब मोदी की फ़िल्म ग़ालिब को न केवल 'अपने

[36] इरा भास्कर और रिचर्ड ऐलन (2009) : 132.

02Sikha_Layout 1 22-02-2024 15:14 Page 46

चित्र 7. उसे ग़ज़ल चोर कहने के बावजूद, नाज़ आरा ग़ज़ल में एक स्रोत के रूप में एजाज़ के जोशीले प्रदर्शन के प्रति धीरे-धीरे लट्टू हो जाती है. (निर्दे. वेद-मदन, 1964).

समय की आवाज़' के रूप में बल्कि 'उस समय से कहीं आगे की पूरे दक्षिण एशिया में गुंजायमान आवाज़' के रूप में पेश कर रही थी।

मिर्ज़ा ग़ालिब ने दर्शकों/श्रोताओं को उनके जीवन के काल्पनिक वृत्तांतों से भरी ग़ालिब की शायरी का पुनरावलोकन करने का मौक़ा दिया, क्योंकि फ़िल्म में प्रस्तुत कई ग़ज़लें सहगल और बेगम अख़्तर द्वारा ग़ैर-फ़िल्मी ग्रामोफ़ोन रिकॉर्डिंग के माध्यम से पहले से ही प्रचलन में थीं। ग़ज़ल के शायराना और ध्वन्यात्मक स्वर विस्तार को सामने लाने के लिए फ़िल्म में जिस तरह रेडियो को सुनने के उपकरण के तौर पर इस्तेमाल किया गया यह रेखांकित करने के लिए मैं इसे एक व्यापक सांस्कृतिक संदर्भ में रखना चाहूँगी। *बरसात की रात* (1960) जैसी फ़िल्मों में रेडियो के महत्त्व की चर्चा करते हुए रविकान्त ने एक अहम सुझाव दिया है कि 'रेडियो की कथात्मक मौजूदगी', *सूफ़ी ख़ानक़ाहों, महफ़िलों* और बाज़ारों में *ग़ज़ल* और *क़व्वाली* को गाने की 'परंपरा का अनुकरण करती है।'[37] मेरा मानना है कि ख़ास तौर पर ऐतिहासिक फ़िल्मों ने रेडियो सुनने के श्रव्य अनुभव की नक़ल उतारने के लिए सुनने के औज़ारों को दिखाए बिना रचनात्मक युक्तियों का इस्तेमाल किया। जिस वर्ष *बरसात की रात* आई थी उसी साल प्रदर्शित *बाबर* (1960) में हमें हस्तलिखित *ग़ज़ल* के श्रव्यात्मक तौर पर आविष्ट सांगीतिक अदायगी में रूपांतरण की मिसाल मिलती है।[38] हुमायूँ और हमीदा बानो के बीच का इश्क़ शायराना ख़तों के आदान-प्रदान के द्वारा पनपता है जो पर्दे पर तीन ग़ज़लों की शक्ल लेता है। 'सलामे हसरत क़ुबूल कर लो' एक लिखित पत्र से संगीतमय ध्वनि की यात्रा करता है, जब हमीदा बानो की दोस्त हिजाब हुमायूँ की लिखी ग़ज़ल गाना शुरू करती है, जबकि इस ख़त को पाने वाली हमीदा बानो एकाग्रचित्त होकर सुनती है। यह परंपरा लोकप्रिय रेडियो कार्यक्रमों से ग्रहण की गई है, जो फ़िल्मी गानों के लिए *फ़रमाइश* के साथ रूमानी सन्देश भेजने के लिए दर्शकों को आमंत्रित करते थे। हुमायूँ को काग़ज़ी ख़तों में लिपटा हमीदा बानो का ठंडा जवाब गाने में बदल जाता है। हम देखते हैं कि मुग़ल शहज़ादा स्क्रॉल पढ़ रहा है और उसी समय ग़ज़ल गाते हुए बानो का क्लोज़-अप सुलिखित पन्ने पर सुधा

[37] रविकान्त (2016) : 231.

[38] दिलीप कुमार और तलत महमूद के अन्य गानों की तरह 'हुस्न वालों को न दिल दो' का अंदाज़ हल्का-फुल्का है, जिसमें दिलीप कुमार का चरित्र महिलाओं के साथ चुहल करता है.

02Sikha_Layout 1 22-02-2024 15:14 Page 47

मल्होत्रा की आवाज़ के साथ आरोपित हो जाता है। इसके बाद हुमायूँ का जवाब एक और स्क्रॉल पत्र के रूप में आता है जिसे हिजाब बानो के कमरे में छोड़ देती है। जैसे ही बानो स्क्रॉल उठाती है, हमें धीरे-धीरे स्पष्ट होती मोहम्मद रफ़ी की कोमल, संवेदनशील और इसरार भरी आवाज़ में 'तुम एक बार मोहब्बत का इम्तेहान तो लो' ग़ज़ल सुनाई देती है। यह दृश्य रेडियो के अनुभव की याद ताज़ा करता है। कैमरा ग़ज़ल के श्रव्यात्मक आवेश का आस्वाद करते हुए बानो और हिजाब को दिखाता है (हिजाब खिड़की के पीछे छिपी है लिहाज़ा बानो से भी); इसके बोल, सांगीतिक अंतराल और रफ़ी की पर्दे के पार्श्व से आती आवाज़ उन्हें अपने आग़ोश में ले लेती है।

महफ़िल-शैली की ग़ज़ल का एक अन्य उपयोग *लाल क़िला* (1960) में है, जब हम बहादुर शाह ज़फर को 'न किसी की आँख का नूर हूँ' गाते हुए सुनते हैं। हालाँकि हालिया विद्वानों ने इसे मुज़्तर ख़ैराबादी की लिखी ग़ज़ल बताया है (अख़्तर 2005), पाठ में मार्मिकता लाने के लिए, फ़िल्म इस लोकप्रिय विश्वास की तरफ़ ध्यान दिलाती है कि यह ग़ज़ल अंग्रेज़ों द्वारा तख़्त से बेदख़ल अंतिम मुग़ल शासक बहादुर शाह ज़फ़र द्वारा लिखी गई है। जब बादशाह अपने परिवार के सदस्यों और दरबारियों की ओर बेबसी से देखते हुए गाता है तो पर्देतर संगीत और सरल धुनों के न्यूनतम उपयोग से सजी मुहम्मद रफ़ी की संयमित आवाज़ मुग़ल दरबार को मनहूसियत से भर देती है। घूमता हुआ कैमरा दरबार में मौजूद तमाम किरदारों के स्तब्ध चेहरे दिखाता है तो भावनात्मक इंदराज को क्रमशः विस्तार मिलता है और साथ ही हमारा ध्यान शायरी की ओर खींचता है।

उदास ग़ज़ल

अपने इंटरव्यू में मेहदी हसन ने जिस दूसरी तरह की ग़ज़ल का ज़िक्र किया है, मैं उसकी तरफ़ वापस आना चाहूँगी। *महफ़िल शैली* की ग़ज़ल के विपरीत इस शैली को हम उदास *ग़ज़ल* कह सकते हैं, जो 1950 और 1960 के दशक की फ़िल्मों में आमतौर पर पाई जाती थीं :

एक मैं और एक मेरी बेकसी की शाम है।
(तराना, 1951)

यह दूसरी तरह की ग़ज़ल का प्रतिनिधित्व करती है जिसमें गीत, सांगीतिक तत्त्व और दृश्यात्मक माहौल किसी खोई हुई ख़ुदी की निराशा से लबरेज़ है। इस ग़ज़ल के चित्रण में दिलीप कुमार की तन्हाई को कैमरा दूर से फ्रेम करते हुए उनकी हताशा को दर्शाता है। गाने की शुरुआत एक बहुत नाटकीय और त्रासद दृश्य से होती है : तराना (मधुबाला द्वारा निभाया किरदार) से मोती (दिलीप कुमार) प्रेम करता है लेकिन शादी नहीं कर सकता, परिवार की बदनामी कराने के लिए उसका पिता उसको कोसता है। तराना के बाप को झूठी ख़बर दी जाती है कि उसकी बेटी विवाह-पूर्व माँ बनने वाली है; क्रोधित पिता तराना को घर में बंद कर उसमें

आग लगा देता है। जब उसे काफ़ी देर बाद झूठ का पता चलता है तो वह उसे बचाने के लिए दौड़ता है। रोते हुए पिता और जले हुए घर का विस्तृत चित्रण अंततः उसकी मृत्यु के साथ समाप्त होता है। हमें विश्वास दिलाया जाता है कि तराना भी मर चुकी है। इस स्थिति में कैमरा कट कर अलग स्थल पर पहुँचता है, और नज़्म तलत महमूद की आवाज़ में एक दोहे के साथ बिना किसी साज़ के शुरू होती है।

जली जो शाख़-ए-चमन, साथ बाग़बाँ भी जला
जलाके मेरा नशेमन, वो आसमाँ भी जला।

संगीत की प्रस्तुति के पहले दोहे का उपयोग एक आकस्मिक श्रव्य अतिक्रमण है, कहें कि एक आर्त्तनाद है। खोने की गहरी भावना व्यक्त करते हुए, दर्शकों को संबोधित यह पुकार, वर्तमान पल की व्यथा को सीधे व्यक्त करता है।[39] हम यहाँ किसी बड़े सार्वजनिक स्थान पर प्रदर्शित गीतों के माध्यम से कथा के अन्वेषण पर किए गए रवि वासुदेवन के सूत्रीकरण को याद कर सकते हैं।[40] इस उदास शैली की अधिकांश ग़ज़लें दोहे से शुरू होती थीं जिन्हें तन्हा किरदारों द्वारा बिना श्रोताओं की मध्यस्थता के पर्दे पर प्रस्तुत किया जाता था। इसके अलावा, इन ग़ज़लों में कैमरा दूर ही रहता था। दिलीप कुमार यहाँ एक अलहदा व्यक्ति के तौर पर, आस-पास की दुनिया से पूरी तरह अलग-थलग, चित्रित हुए हैं। दिलीप कुमार की सूक्ष्म भंगिमाओं और चेहरे के हाव-भाव पर तलत महमूद की नर्म और लरज़ती हुई आवाज़ और गहरी छाया के साथ चमकीले प्रकाश का विरोधाभास इस गाने में व्यक्त खोए हुए प्यार और गहरी निराशा की भावना को विश्वसनीय बना देता है। इन आख्यानों में पितृसत्तात्मक क़ायदों के दबाव, वर्ग-विभाजन, सामाजिक ऊँच-नीच और नैतिक ऊहापोह बार-बार आते हैं। लेकिन कविता में इन मुद्दों अथवा घटनाओं का प्रत्यक्ष वर्णन नहीं आता। इसके बजाय इन घटनाओं से उपजी बेकली और बेकसी की सामान्य भावना को ये गीत बयाँ करते हैं।[41]

इस ग़ज़ल में श्रव्य अतिक्रमण, भाव-भंजक के रूप में दोहे का उपयोग एक महत्त्वपूर्ण शैलीगत विशेषता बन जाता है। यही दोहा संगीत निर्देशकों के लिए एक सांगीतिक शैली के रूप में ग़ज़ल और फ़िल्मी गाने के बीच मध्यस्थता का बिंदु बनकर भी उभरता है। दिलीप कुमार के लिए तलत महमूद द्वारा गाई हुई एक अन्य ग़ज़ल 'हम दर्द के मारों का' (*दाग़*, 1952) एक दोहे से शुरू होती है। यहाँ एक बार फिर महमूद की नर्म गुनगुनाती शैली शब्दों को हावी होने देती है। सरल, गुनगुनाने योग्य धुन से संगीतबद्ध ये ग़ज़लें गायकी की ख़ूबी या शब्दकौशल प्रदर्शित न करके नायक के अंदरूनी अँधेरे, आंतरिक परिदृश्य को दिखाती हैं।

---

[39] *बरसात की रात* में गाने और संगीत के लिए साहिर लुधियानवी और रोशन ने साथ काम किया और इसका संगीत बहुत लोकप्रिय हुआ था.

[40] रवि वासुदेवन (2010) : 43.

[41] एजाज़ अहमद (1995) : xxiv.

02Sikha_Layout 1 22-02-2024 15:14 Page 49

इन गानों में प्रयुक्त पश्चिमी ऑर्केस्ट्रा का उल्लेख भी ज़रूरी है। नौशाद, अनिल विश्वास और शंकर जयकिशन ने पियानो, पियानो एकॉर्डियन, गिटार, वायलिन और मैंडोलिन का इस्तेमाल करके सुरों की अतिरिक्त विविधताएँ पैदा कीं। 'हम दर्द के मारों का' एक दोहे से शुरू होती है जो एक तड़प भरा विलाप है :

बुझ गए ग़म की हवा से प्यार के जलते चिराग़
बेवफ़ाई चाँद ने की, पड़ गया उसमें भी दाग़।

इन ग़ज़लों की पंक्तियों में 'इश्क़ की नाकामी और अस्वीकृति' जलती हुई देह, घर और ख़ुदी के रूपक धरकर बार-बार आती है। मसलन :

ज़िंदा हूँ इस तरह ग़म-ए-ज़िन्दगी नहीं

आग (1948) में मुकेश के गाये इस गाने की दूसरी पंक्ति में बग़ैर आग के ख़ुदी के जलने का भाव है :

जलता हुआ दिया हूँ मगर रौशनी नहीं।

चौदहवीं का चाँद (1960) *की* मोहम्मद रफ़ी द्वारा गाई गई शीर्षक ग़ज़ल में भी भस्मीभूत इश्क़ से हम मुख़ातिब होते हैं :

मिली ख़ाक में मोहब्बत, जला दिल का आशियाना।

1950 और 1960 के अंतिम दशकों में, जब तलत महमूद और दिलीप कुमार की जोड़ी टूटी तो मोहम्मद रफ़ी ही उनकी आवाज़ बने। रफ़ी ने दिलीप कुमार के लिए और अधिक नाटकीय स्वरों वाली ग़ज़लें गाईं जैसे कि यह ग़ज़ल :

टूटे हुए ख़्वाबों ने हमको यह सिखाया है
(मधुमती, 1958)

और

गुज़रे हैं आज इश्क़ में हम उस मक़ाम से,
नफ़रत सी हो गई है, मोहब्बत के नाम से।
(*दिल दिया दर्द लिया*, 1966)

02Sikha_Layout 1 22-02-2024 15:14 Page 50

इन तमाम ग़ज़लों में दिलीप की व्यथा वीरानियों में गूँजती है। अपने हालिया अध्ययन में, इरा भास्कर ने 1930 और 1940 के दशक में जर्मन अभिव्यक्तिवाद के साथ भारतीय सिनेमा की मुलाक़ात की ओर ध्यान आकर्षित किया है जिसका इसके दृश्य और श्रव्य सौंदर्यबोध पर एक ख़ास असर पड़ा। 'भावनाओं का सचेत अभियोजन भारतीय मेलोड्रामा की विशेषता है' और इसमें यह असर देखा जा सकता है।[42] भास्कर के अनुसार, विविध पौराणिक और काव्य परंपराओं से निःसृत गीत भारतीय सिनेमा के अभिव्यक्तिवादी सौंदर्यशास्त्र के केंद्र में हैं। उदास ग़ज़लों की चर्चा में हम इस सौंदर्यशास्त्रीय शैली का प्रभुत्वशाली प्रयोग देख सकते हैं : नायक-गायक अकेले हैं, उसके इर्द-गिर्द नाटकीय प्रकाश संयोजन के चलते गहरे बड़े डरावने साये डोल रहे हैं और इस माहौल में *ख़त्म, मातम, ग़म, बेकसी, तन्हाई, बर्बादी* जैसे शब्द एक हिली हुई ख़ुदी का नैराश्य रचते हैं।

विरह संबंधी अपने अध्ययन में कुमकुम संगारी ने विभिन्न भंडारों और मौखिक, पाठ्य, सांगीतिक, नाटकीय और सिनेमाई आदि अंतर्माध्यमिक रूपों में निरूपित प्रेम को समझने की कोशिश की है। संगारी ने बताया है कि भक्ति और सूफ़ी काव्य, मध्यकालीन प्रेमाख्यान और ठुमरी व ग़ज़ल के भंडार से विरह के आरंभिक रूपों ने सिनेमा में प्रवेश करके वहाँ रोमांस, विछोह और समर्पण के विविध इंदराज का सृजन किया।[43] विरह की व्यापक नक़्शानवीसी करते हुए संगारी इस विविध इंदराज के उन विषम व्यंजनाओं को सामने लाती हैं जिसके ज़रिए 'विभाजन और आज़ादी की हिंसक युगलबंदी को एक साथ नियोजित किया जा सकता था'।[44] 1950 के दशक की ग़ज़लों में प्रेम, ख़ुदी और घर के टूटने-बिछुड़ने की बार-बार दोहराई जाती कहानी एक साथ निजी और सार्वजनिक नैराश्य का सांस्कृतिक-ऐतिहासिक बयान है। इस लिहाज़ से, तलत महमूद की ग़ज़लों के माध्यम से अपनी आवाज़ पाने का मेहदी हसन का दृष्टांत न केवल तलत और दिलीप कुमार दोनों के लिए अपने आकर्षण का स्वीकार है, बल्कि ग्रामोफ़ोन, रेडियो और सिनेमा की प्रौद्योगिकी की ओर भी इशारा है जिसने न सिर्फ़ इन ग़जलों का प्रसार किया बल्कि साझा इतिहास के साथ-साथ हताशा व नउम्मीदी की अभिव्यक्तियों का भंडार भी सौंपा। इस प्रकार ये किंवदंतियाँ दरअसल विरह, तड़प और अपूर्णता के अमूर्त भाव के मिले-जुले इतिहास के सुराग़ हैं।

सिनेमाई संगीतकारों ने शायरों और गीतकारों के साथ घनिष्ठ साझेदारी में काम करते हुए नायिकाओं पर फ़िल्माई ग़ज़लों के लिए जगह बनाई। जैसा कि हमने देखा कि इनमें मदन मोहन प्रमुख थे जिन्होंने विरह और नाउम्मीदी की भावनाओं से ओत-प्रोत लता मंगेशकर द्वारा गाई हुई कई ग़ज़लों की रचना की और जिन्हें तन्हा नायिकाओं पर फ़िल्माया गया था। कुछ मिसाल देखें :

---

[42] इरा भास्कर (2018) : 253.

[43] कुमकुम संगारी (2011) : 266.

[44] वही : 276.

02Sikha_Layout 1 22-02-2024 15:14 Page 51

हम प्यार में जलने वालों को (जेलर 1958)
हमारे बाद अब महफ़िल में अफ़साने बयाँ होंगे (बाग़ी, 1953)
न तुम बेवफ़ा हो न हम बेवफ़ा हैं (एक कली मुस्कायी, 1968)

और

रुके-रुके से क़दम रुकके बार-बार चले। (मौसम, 1975)

इसके अलावा, तवायफ़ संबंधी फ़िल्मों में मदन मोहन द्वारा संगीतबद्ध महफ़िल शैली की ग़ज़ल पतिता स्त्री के लिए नैतिक स्वीकार्यता का प्रतिनिधि ठौर बन गई। इन ग़ज़लों में, बेगम अख़्तर की अदायगी की नाटकीय शैली के निशान देख सकते हैं जहाँ मध्यम संगीत के साथ-साथ शायरी पर ज़ोर होता था और गायिका द्वारा बढ़त करने का अवकाश भी। यह बढ़त शैली इन ग़ज़लों में विशेष रूप से देखी जा सकती है :

रस्मे उल्फ़त को निभाएँ तो निभाएँ कैसे (दिल की राहें, 1973)

और

आज सोचा तो आँसू भर आए,
मुद्दतें हो गईं मुस्कुराए। (हँसते ज़ख़्म, 1973)

साथ ही इन ग़ज़लों को लता मंगेशकर से गवाकर मदन मोहन ने विधा को कोठा के प्रभाव से मुक्त करने में मदद की। जैसा कि मैंने अन्यत्र कहा है, अपने स्वर की ऊँचाई को बढ़ाकर लता मंगेशकर ने कोठा से जुड़ी 'मुक्त-कंठ' की गायन शैली की काट विकसित की थी।[45] ज़ाहिर है फ़िल्म उद्योग में गायिकाओं की नैतिक और वर्गीय पहचानों का मूल्यांकन उनकी गायन की प्रकृति के आधार पर किया जाता था। इन विशेष तरह की ग़ज़लों ने नायिकाओं की कामनाओं, असफल संबंधों, बेवफ़ाई और जकड़न जैसी अंदरूनी भावनाओं को अभिव्यक्त करने का सामान दिया। ग़ौरतलब है कि इन दृश्यबंधों में पर्दे पर मुख्य श्रोताओं का ध्यान आकर्षित करने के लिए गीत और संगीत एक साथ आते हैं। मसलन :

न हँसो हम पे, ज़माने के हैं ठुकराए हुए (गेटवे ऑफ़ इंडिया,1957)

और

वो चुप रहें तो मेरे दिल के दाग़ जलते हैं (जहाँ आरा, 1964)

मदन मोहन द्वारा संगीतबद्ध अन्य सभी ग़ज़लें ऐसी हैं जिन्हें संरक्षक पुरुषों के मनोरंजन के लिए तवायफ़ों ने पेश किया।

अदालत (1958) में नर्गिस ने कोठे में फँसी हुई एक मध्यवर्गीय महिला का किरदार अदा किया है। इस फ़िल्म की ग़ज़लें इस बात का प्रमाण हैं कि उदास ग़ज़ल जब महफ़िल में प्रवेश करती है तो कैसे प्रस्तुति स्थल बदल-बदल जाता है। बड़े से सेट में निर्मल (नर्गिस द्वारा

[45] शिखा झींगन (2016) : 219.

02Sikha_Layout 1 22-02-2024 15:14 Page 52

अभिनीत) बैठकी महफ़िल के अंदाज़ में सारंगी, हारमोनियम और तबला बजाने वाले साज़िंदों के साथ बैठी है। यहाँ ऐसे श्रोताओं की उपस्थिति ग़ौरतलब है जो तवायफ़ की ओर कामुक निगाहों से देख रहे हैं। लेकिन चूँकि नायिका उनसे नज़रें नहीं मिला रही है तो महफ़िल शैली का रूपायन यहाँ कुंठित हो जाता है। 'यूँ हसरतों के दाग़, मोहब्बत में धो दिए' कमसिन निर्मल (लता मंगेशकर की आवाज़ में) द्वारा पेश की जा रही है जो अपने किसी भी श्रोता से मुख़ातिब होने से इंकार करती है। हालाँकि वह *महफ़िल* में गा रही है लेकिन निर्मल की शून्य में टँगी आँखें उसे एक ग़मगीन त्रासद शख़्सियत बनाता है। ग़ज़ल में पसरी उदासी तंतु साज़ की शह पाकर वाद्यावकाश में ख़ास तौर से गहरी हो जाती है। ग़ज़ल के बोल निर्मल द्वारा जाल में फँसी होने और नाउम्मीदी के एहसास का इज़हार करते हैं जिसे फ़िल्म की कहानी में पहले ही विस्तार से स्थापित किया जा चुका है। इस दृश्यबंध में पर्दे से बाहर बैठे यानि सिनेमा देखने वाले श्रोताओं/दर्शकों और कोठे के दर्शकों के बीच सूक्ष्म भेद किया गया है : पहली कोटि को निर्मल की त्रासदी का एहसास है, जबकि दूसरी कोटि उससे नितांत अनभिज्ञ है।

निष्कर्ष

महत्त्वपूर्ण ग़ज़ल गायकों पर जीवनीपरक सामग्री के साथ एक सांगीतिक विधा के रूप में ग़ज़ल रिकॉर्डिंग का विश्लेषण करके मैंने यह दिखाने का प्रयास किया है कि किस तरह पाठ्य, मौखिक और श्रव्य तत्त्व एक-दूसरे को परस्पर अनुप्राणित करते हुए ग़ज़ल की सशक्त विधा को श्रोताओं तक ले जाते हैं। ग्रामोफ़ोन और रेडियो जैसी मीडिया प्रौद्योगिकी ने शायरों और गायकों को रचनात्मक निकटता में ला खड़ा किया। ग़ज़ल के श्रव्य आवेश को सामने लाते हुए वाचाल सिनेमा ने इन संजालों का आगे विस्तार किया। मैंने उन दो तरीक़ों का ज़िक्र किया है जिनमें 1950 और 1960 के दशक की फ़िल्मों में सांगीतिक ग़ज़ल पेश की गई। पहली थी महफ़िल शैली की ग़ज़ल जिसने काव्य के पाठ को अधिक महत्त्व दिया और इसको भी कि कैसे पर्दे का शऊरमंद श्रोता ग़ज़ल को सराहता है। रूमानी प्रेम में पगी फ़िल्मी ग़ज़ल गायक की प्रेमिल आवाज़ में लिपटी चली आती है और गायक व श्रोताओं के बीच नज़रों के आदान-प्रदान से इसे अतिरिक्त गहराई मिलती है। दूसरी तरह की ग़ज़ल ने दर्शकों को प्रत्यक्ष रूप से संबोधित किया और मनहूस माहौल में फँसे तन्हा व्यक्ति की गहरी नाउम्मीदी और असुरक्षाबोध को नुमायाँ किया। रंगारंग महफ़िल में तवायफ़ तो है लेकिन वह कैमरे से नज़र चुराती यानि वह कोठे से बाहर बैठे किसी और श्रोता समुदाय से मुख़ातिब है। विरह के बारे में संगारी की स्थापना सिनेमाई ग़ज़ल के मेरे अपने विश्लेषण से मेल खाती है, कि विछोह और वेदना के सतत रूपांकन के माध्यम से ग़ज़ल उत्तर-औपनिवेशिक काल में बृहत्तर भावनात्मक और ऐतिहासिक इंदराज को खोलने में कारगर हुई।

02Sikha_Layout 1 22-02-2024 15:14 Page 53

संदर्भ

अंबरीश मिश्रा (1992), 'मेलोडी योर नेम', *द टाइम्स ऑफ़ इंडिया*, 3 मई.

अतुल (2012), 'अच्छे ईसा हो मरीज़ों का ख़्याल अच्छा है', *वर्डप्रेस ब्लॉग*, 3 सितम्बर, https:// atulsonga-day.me/2012/09/03/achcha-eesaa-ho-mareezon-ka-khayaal-achcha- hai/. 15 दिसंबर, 2016 को देखा गया.

अनिल बिस्वास (1975), 'द ग़ज़ल इन इंडियन फ़िल्म्स', *संगीत नाटक*, 37.

अनिल बिस्वास (एन.डी.), 'माई जर्नी इन्टू द वर्ल्ड ऑफ़ फ़िल्म म्यूज़िक', डी. हथी और पी. शर्मा (सं.) *ट्रिब्यूट टू अनिल बिस्वास*, विंटेज हिंदी म्यूज़िक लवर्स एसोसिएशन, बंगलौर : 7-10.

अमिय चक्रवर्ती (1952), *दाग़*, (डीआईएर.), मार्स ऐंड मूवीज़ प्रोडक्शंस, इंडिया.

इरा भास्कर (2018), 'एक्सप्रेसनिस्ट ऑरैलिटी : द स्टाइलज़्ड एस्थेटिक ऑफ़ भाव इन इंडियन मेलोड्रामा', सी. ग्लेडहिल ऐंड आई. विलियम्स (सं.), *मेलोड्रामा अनबाउंड एक्रॉस हिस्ट्री*, मीडिया ऐंड नैशनल कल्चर्स, कोलंबिया युनिवर्सिटी प्रेस, न्यू यॉर्क.

इरा भास्कर और रिचर्ड ऐलन (2009), *इस्लामिकेट कल्चर्स ऑफ़ बॉम्बे सिनेमा*, तूलिका बुक्स, नई दिल्ली.

एजाज़ अहमद (सं.) (1995), 'इंट्रोडक्शन', *ग़ज़ल्स ऑफ़ ग़ालिब : वर्सेज़ फ्रॉम दि उर्दू*, ऑक्सफ़र्ड, नई दिल्ली.

एस. एम. मेहदी (1975), 'डेवलपमेंट ऑफ़ द उर्दू ग़ज़ल-सॉन्ग', *संगीत नाटक*, 37 : 5-11.

कुमकुम संगारी (2011), 'विरहा : ए ट्रैजेक्ट्री इन नेहरूवियन एरा', के. पंजाबी (सं.), *पोएटिक्स ऐंड पॉलिटिक्स ऑफ़ सूफ़िज़म ऐंड भक्ति इन साउथ एशिया : लव, लॉस ऐंड लिबरेशन*, ओरिएंट ब्लैकस्वान, हैदराबाद : 256-87.

गुलज़ार (1990), 'इंट्रोडक्शन', *ग़ज़ल का सफ़र*, 10-कैसेट सिरीज़, एचएमवी इंडिया.

चित्रदूत (1969), 'ग़ालिब इन फ़िल्म्स', *फ़िल्मफेयर*, 25 अप्रैल : 41-43.

चौधरी ज़िया इमाम (2008), *नौशाद : ज़र्रा जो आफ़ताब बना*, पेंगुइन बुक्स इंडिया, नई दिल्ली.

जावेद अख़्तर (2005), *टॉकिंग सॉन्स : इन कन्वर्सेशन विद नसरीन मुन्नी कबीर*, ऑक्सफ़र्ड, नई दिल्ली.

जी. एन. जोशी (1984), *डाउन मेलोडी लेन*, संगम बुक्स, बॉम्बे.

ठोकर (1939), वहीदन बाई (निर्देशन), रंजीत मूवीटोन, इंडिया.

डेविड लेलीवेल्ड (1994), 'अपॉन द सबडोमिनेंट : ऐडमिनिस्ट्रिंग म्यूज़िक ऑन आल-इंडिया रेडियो', *सोशल टेक्स्ट*, 39 : 111-27.

तराना (1951), राम दरयानी (निर्देशन), रंजीत मूवीटोन, इंडिया.

पीटर मैनुएल (1988-89), 'द हिस्टोरिकल सर्वे ऑफ़ द उर्दू ग़ज़ल-सॉन्ग इन इंडिया', *एशियन म्यूज़िक*, 20 : 1, : 93-110.

प्राण नोविले (2011), *कुंदन लाल सहगल : द डेफ़िनिटिव बायॉग्रफ़ी*, पेंगुइन बुक्स, दिल्ली.

फ्रंचेस्का ओर्सीनी (2007), 'इंट्रोडक्शन' , एफ़. ओर्सीनी (सं.), *लव इन साउथ एशिया : ए कल्चरल हिस्ट्री, साउथ एशिया*, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली : 1-39.

फ्रांसिस प्रिचेट (1994), *नेट्स ऑफ़ अवेयरनेस : उर्दू पोएट्री ऐंड इट्स क्रिटिक्स*, युनिवर्सिटी ऑफ़ कैलिफ़ोर्निया प्रेस, बर्कली.

ब्रायन लारकिन (2013), 'द पॉलिटिक्स ऐंड पोएटिक्स ऑफ़ इन्फ्रास्ट्रक्चर', *द एनुअल रिव्यु ऑफ़ ऐंथ्रोपॉलजी*, 42 : 327-43.

02Sikha_Layout 1 22-02-2024 15:14 Page 54

भास्कर चंदावरकर (1980), 'द ग्रेट इंडियन फ़िल्म सॉन्ग कंट्रोवर्सी', *सिनेमा विज़न इंडिया*, 1-4 : 66-75.

भास्कर चंदावरकर (1987), 'बर्थ ऑफ़ द फ़िल्म सॉन्ग', *सिनेमा ऑफ़ इंडिया*, अप्रैल : 7-11.

माइकल किन्नियर (1994), द *ग्रामोफ़ोन कंपनी 'ज फ़र्स्ट इंडियन रिकॉर्डिंग्स : 1899-1908*, पॉपुलर प्रकाशन, बॉम्बे.

मेघनाद देसाई (2004), *नेहरू 'ज़ हीरो : दिलीप कुमार इन द लाइफ़ ऑफ़ इंडिया*, लोटस कलेक्शन, रोली बुक्स, नई दिल्ली.

मेहदी हसन (1991) 'द लिविंग लेजेंड', द *हिंदू*, 27 सितम्बर.

रवि वासुदेवन (2010), द *मेलोड्रैमैटिक पब्लिक : फ़िल्म फॉर्म ऐंड स्पेक्टेटरशिप इन इंडियन सिनेमा*, परमानेंट ब्लैक, रानीखेत.

रविकान्त (2016), 'वर्ड्स इन मोशन पिक्चर्स : ए सोशल हिस्ट्री ऑफ़ लैंग्वेज ऑफ़ 'हिंदी' सिनेमा', *अप्रकाशित डॉक्टोरल शोध-प्रबंध,* दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली.

राघव मेनन (1989), *के. एल. सहगल : द पिलग्रिम ऑफ़ स्वर*, हिंद पॉकेट बुक्स, नई दिल्ली.

रीता गांगुली (2008), *ऐ मोहब्बत : रिमिनीसिंग बेगम अख़्तर*, स्टेलर, नई दिल्ली.

रेगुला क़ुरैशी (1990), 'म्यूज़िकल जेस्चर ऐंड एक्स्ट्रा-म्यूज़िकल मीनिंग : वर्ड्स ऐंड मीनिंग्स इन द उर्दू ग़ज़ल', *जर्नल ऑफ़ अमेरिकन म्यूज़िकोलॉजिकल स्टडीज़*, 43 : 457-97.

रैल्फ़ रसेल (1969), 'द परसूट ऑफ़ द ग़ज़ल', द *जर्नल ऑफ़ एशियन स्टडीज़*, 29 : 1 :107-24.

विक्रम संपत (2010), *माय नेम इज़ गौहर जान! : द लाइफ़ ऐंड टाइम्स ऑफ़ ए म्यूज़िशियन*, रूपा पब्लिकेशन, नई दिल्ली.

विभूति दुग्गल (2018), 'इमैजनिंग साउंड थ्रू द फ़रमाइश : रेडियोज़ ऐंड रिक्वेस्ट-पोस्टकार्ड्स इन नॉर्थ इंडिया, 1955-75', *बायोस्कोप*, 9 : 1 : 1-23.

शरद दत्त (2007), *कुंदन लाल सहगल का जीवन और संगीत*, पेंगुइन बुक्स इंडिया, नई दिल्ली.

शांति हीरानंद (2005), *बेगम अख़्तर : द स्टोरी ऑफ़ अम्मी*, विवा बुक्स, नई दिल्ली.

शाहजहाँ (1946), राम दरयानी (निर्देशन), कारदार प्रोडक्शन, इंडिया.

शिखा झींगन (2009), 'द सिंगर, द स्टार ऐंड द कोरस', *सेमिनार*, 598 : 58-63.

शिखा झींगन (2016), 'सोनिक रप्चर्स : म्यूज़िक, मोबिलिटी ऐंड द मीडिया', ए. राजगोपाल और ए. राव (सं.), *मीडिया ऐंड युटोपिया : हिस्ट्री, इमैजिनेशन ऐंड टेक्नोलॉजी*, न्यू यॉर्क : रटलेज : 209-34.

सआदत हसन मंटो (1998), *स्टार्स फ़्रॉम अनदर स्काय : द बॉम्बे फ़िल्म वर्ल्ड ऑफ़ द 1940ज़*, पेंगुइन बुक्स, नई दिल्ली.

सुरेश चंदावरकर (एन. डी.), 'कुंदनलाल सहगल (1904-1947)', *ओल्डीज़ क्लब*,

https://members.tripod.com/oldies_club/klsaigal.htm. 15 दिसबंर 2016 को देखा गया.